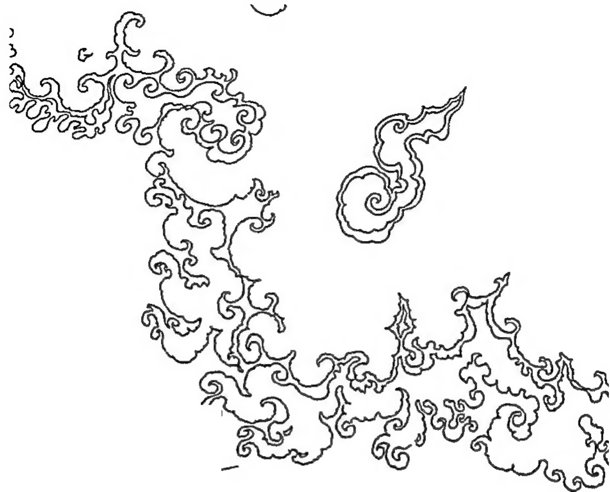
वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर



सबद निरन्तर

रमेशचन्द्र शाह



रमेश चन्द्र शाह

प्रथम संस्करण 1987

मूल्य पैंसठ रुपये मात्र

आवरण तूलिका

प्रकाशक
वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास चन्दन सागर
बीकानेर 334001

मुद्रक
साखला प्रिन्टर्स
चन्दन सागर बीकानेर

ISBN 81 85127 05 0

SABAD NIRANTAR by Ramesh Chandra Shah

Rs 65 00

अनुक्रम

सबद निरन्तर

शब्द और सत्य : भूमिका की बात

एक प्रसिद्ध आधुनिक कवि का कहना है कि 'सारी कला अन्ततः एक पलायन ही है—शब्द की अपार उदारता में। उसी के समकालीन एक दूसरे कवि की उक्ति भी याद आ रही है—'ह्यूमनकाइंड कैन नॉट बियर वेरी मच रियलिटी' अर्थात् आदमी की जात बहुत ज़्यादा यथार्थ नहीं झेल सकती। दोनों ही इस ज़माने के विख्यात कवियों में गिने जाते हैं और यह अकारण नहीं है कि असाधारण भाषिक क्षमता वाले लोग ही मनुष्य और उसकी सीमाओं के बारे में इतने उदास और निराश हो जाते हैं? क्या हम यहीं कहें कि मनुष्य और उसकी सामर्थ्य के बारे में भी सबसे ज़्यादा बढ़ चढ़ कर दावा करने वाले प्रायः वही लोग होते हैं जिनकी भाषिक सामर्थ्य और कल्पना शक्ति भी दूसरे स्तर की होती है।

मगर दूसरी ओर मनुष्य की सत्य को जानने और पाने की ज़िद भी तो कोई कम पुरानी या कम सच्ची नहीं। इतिहास में भी कभी कभी बड़े दुर्दम किस्म के सत्याग्रही निकल आते हैं जो सत्य की खातिर अपने अस्तित्व को ही दाँव पर लगा देने को तैयार रहते हैं। दूर क्या जाएँ स्वयं यह कहने वाला कि सत्य की अपारता में पलायन मानने वाला कवि भी तो अपने सामने जिस अग्रज कवि का आदर्श रख के चलता था वह विलियम ब्लेक भी तो स्वयं उसी के शब्दों में 'बन्द दरवाज़े को तब तक पीटता रहा, जब तक सत्य स्वयं बाहर निकल कर उसके सामने प्रकट नहीं हो गया' (हू बीट अपॉन द वॉल/टिल ट्रुथ ओबेड हिज़ कॉल)। यह विरोधाभास क्या बताता है?

क्या हमारा हिन्दी का आधुनिक कवि भी इसी अँधेरी दीवाल में ही सेंध लगाने की या उसे विस्फोटक से उड़ा देने की बात कर रहा है? शब्द और सत्य के बीच के सम्बन्ध का एक रूपक अगर यह है तो एक यह भी है जो पुराने ज़माने के कवि (या, कह लीजिए, ऋषि) ने उपयोग किया है: 'सोने के चमकीले ढक्कन से सत्य का मुख ढका हुआ है, जगत् का पोषण करने वाले हे पूषन्! मुझ सत्य के साधक के लिए तुम उस ढक्कन को हटा दो'। क्या ये दोनों बातें मूल में एक ही हैं और फ़र्क सिर्फ़ अभिव्यक्ति

का – युगधमानुकूल अभिव्यक्ति का है ? याकि व मूलत भिन्न है परस्पर विरोधी ? क्या प्रार्थना की भाषा और विद्रोह की भाषा के बीच कहीं कोई सम्बन्ध नहीं दीखता ?

कहने को यह भी कहा जा सकता है कि उपर्युक्त भावना हमारे समकालीन अनुभव का अग न होकर एक ऐसा उद्गार है जो मानव-सभ्यता की अपेक्षाकृत कच्ची और सरल अवस्था म ही सभव है। पर क्या सचमुच ? क्या आधुनिकता के दौर के बाद (और उसक बीचो बीच भी) समूची दुनिया म ऐसा दृश्य नहीं दिखाई देता जहाँ कला स्वय अपने कला होने से किसी कदर तग आकर तथ्य और सत्य के दूसरे दावेदारो के साथ कभी सीधे, कभी आडे तिरछे रिश्ते बनाने का उपक्रम करती हुई अपने स्वभाव का अतिक्रमण कर रही है और ऐसा करत हुए जान बूझ कर अपनी स्वायत्तता को जोखम मे डाल रही है ?

सोने का चमकीला ढक्कन ! सच्चाई की असह्य दीप्ति ! क्या निरावृत सत्य और जीवन की लीला कभी भी साथ-साथ चल सकत हैं ? और जिस सत्य का जीते जी साक्षात्कार होता भी है क्या वह उस यथावत् अभिव्यक्त कर सकता है ? क्या मनुष्य की वाणी उस अनुभव की देहरी पर ही गूगी नहीं पड जाती ? 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह '। आधुनिक कवि यीटस की एक कविता है – ए डायलाग बिटवीन सेल्फ ऐंड सोल – जो ऐसे ही अवाक् कर देने वाले अनुभव की रपट देती है 'बट व्हैन आई थिंक आव द्ट माई टग इज ए स्टोन।' अर्थात् उस अनुभव के बारे मे सोचते ही मेरी जबान पत्थर हो जाती है। योग मार्ग क साधको ने भी इस अवाक् अनुभूति को जाना है और उसे अपने ढग से कहा भी है। पर यह कहना क्या सचमुच उस अनुभूति को कह पाता है ? क्या सत्य क साक्षात्कार की प्रतिभा होना एक बात है और उसे कहने भाषा म भास्वर करने की क्षमता बिलकुल दूसरी बात है ? और ये दोनो क्षमताए संयुक्त रूप से एक व्यक्ति म नहीं पाई जा सकती ? इलहाम मूसा को होता है— पहाड की चोटी पर सुनाई देने वाली दिव्य आकाशवाणी को मूसा ही सुन पाता है। मगर जो उसने सुना, जो उसके साथ उस अनुभव के दौरान घटित हुआ उसकी अभिव्यक्ति म वह नितान्त असमर्थ है। इस अभिव्यक्ति के काम को अंजाम देता है उसका साथी आरून। यह आरून ही मूसा के अनुभव को उसके कथ्य और सदेश को वाणी देता है उसे जनता तक सप्रेषित करता है। यानी मूसा पैगम्बर है और आरून कवि। तो क्या कवि की यही और इतनी ही भूमिका है ? यह कवि की भूमिका हुई कि वाग्मी अथवा आशु

लिपिक की ? और क्या यह सही भूमिका है ? अगर हाँ, तो वैदिक ऋषि की भूमिका क्या है ? वाल्मीकि और व्यास की भूमिका क्या है ? मध्य-कालीन संत कवि की भूमिका क्या है ? वह अनुयायी-वाग्मी की भूमिका है या स्वतंत्र द्रष्टा कवि की ? समूची भारतीय संस्कृति और धार्मिक दृष्टि क्या इसी प्रतीति पर नहीं खड़ी है कि बिना किसी पैगम्बर की मध्यस्थता के परमसत्ता तक सीधी पहुंच संभव है और मंत्रद्रष्टा ऋषि का स्थान इसीलिए सर्वोच्च है ? गुरु की महिमा भी उसकी मध्यस्थता के कारण नहीं है।

मगर सत्य के मुख को ढके रहने वाले हिरण्मय पात्र को हटाने की प्रार्थना भी तो किसी ऋषि ने ही की है। कहीं कला या कविता स्वयं ही तो वह हिरण्मय पात्र नहीं है ? 'माया' अथवा 'आवरण' का ही एक और रूप ? किन्तु क्या यह सत्य के स्वभाव में ही निहित नहीं है कि वह आवरण के द्वारा ही अपने को अभिव्यक्त करे ? इस विरोधाभास से कैसे पार पाया जाय कि आवरण ही सत्य के अनावरण की शर्त है। प्रसाद के एक नाटक में आता है – 'आवृत हो अतीत सब मेरा/मैंने देखा सब कुछ तेरा/परदा होने से '। क्या भाषा – समय से समय भाषा – भी एक परदा ही नहीं है और कवि की विशेषता क्या इसी परदे को अधिकाधिक पारदर्शी बनाते जाने की ही नहीं है ? रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी एक जगह लिखा है कि 'सत्य को तथ्य की तंग पोशाक रास नहीं आती। वह तो कल्पना और कहानी में ही मुक्त नायक के साथ चल फिर सकता है।' इसका मतलब यही न हुआ कि सत्य की खातिर भी कल्पना जरूरी है। बिना कल्पना के, बिना काव्य भाषा के तो सत्य भी पकड़ाई नहीं देता। 'उस माया की छाया में/कुछ सच्चा स्वयं बना था'। तो क्या वाक् शक्ति माया शक्ति है ? या कि माया का आवरण हटाने वाली शक्ति ? ईश्वर की माया को काटने का क्या एक उपाय यह भी नहीं हो सकता कि मनुष्य भी अपने सिरजनहार का अनुकरण करता हुआ वैसी ही माया रचे अर्थात् माया को माया से ही काटे ?

ऐसा प्रतीत होता है कि मानवीय चेतना में ही कहीं यह मौलिक विरोधाभास अन्तर्निहित है कि वह चीजों और सम्बन्धों से प्रभावित, परिभाषित और अभिव्यक्त होते हुए भी दोनों में पूरी तरह खप जाने से इनकार करता है। मानो इन दोनों की लपेट खोलना भी उसके लिए उतना ही अनिवार्य हो जितना दोनों से बँधना। तो क्या चीजें और सम्बन्ध भी हमारी चेतना पर अध्यारोप सरीखे ही हैं – उसका अंग नहीं ? दूसरी ओर, यह भी तो सच है कि जीव मात्र एक दूसरे से और समूची सृष्टि के साथ गुंथे हुए हैं – एक अविच्छेद्य में। न केवल यह – जैसा कि बाइबिल में कहा

गया है, कि 'वी थार आल मेम्बस आव वन अनेदर', — बल्कि, विराट पुरुष की परिकल्पना और दर्शन के अनुसार भी — चराचर के साथ एकता का अनुभव किए बिना हमारी मुक्ति ही संभव नहीं। शायद यही कारण है कि ज्ञान' का दर्शन भी मनुष्य के लिए काफी नहीं पड़ा 'भक्ति' और 'कर्म' के भी दर्शनों की रचना हुई और प्लेटो के आदर्शवाद को, उसके 'सिम्पाजियम' को भी लांघते हुए 'प्रेम' की अनेकानेक अवधारणाओं का विकास हुआ।

यही पर सवाल उठता है कि प्रेम — स्त्री पुरुष सम्बन्ध — यदि सभी देशों और कालों के साहित्य का स्थायी विषय रहा है तो क्यों ? क्या इसलिए, कि यह एक ऐसा नाजुक और सदाबहार क्षेत्र है जहाँ वैयक्तिक-सामाजिक सम्बन्धों की वास्तविकताएँ ही नहीं सामाजिक और वैयक्तिक चेतना में घटित होने वाले कालगत परिवर्तन भी सबसे पहले और सबसे अचूक ढंग से प्रगट होते हैं ? निश्चय ही दूसरे विषय क्षेत्र भी यह सब अंकित करते हैं पर मानव सम्बन्धों का यह क्षेत्र शायद इसलिए अधिक सूक्ष्मग्राही होता है कि वह आदमी को ज्यादा पूरेपन में पकड़ता है—उसकी चेतन अवचेतन सभी हरकतों में। या इसे यों कहें कि उसकी भाविक संवेदनिक सत्ता यहाँ ज्यादा गहराई में और ज्यादा तीव्रता से धड़कती है। यदि ऐसा है तो हमारी चेतना में निहित प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व का उसकी रचनात्मक दिशा और अर्थ का भी प्रामाणिक सूचक यहाँ होगा। यों भी अन्य अनुशासनों की अपेक्षा साहित्य की विशेष महत्ता और उपयोगिता इसी में मानी गई है कि वह सत्य को—अनुभव के तथ्यों का और अस्तित्व के 'फाइनल पैटर्न' को मात्र बौद्धिक ही नहीं बल्कि भाविक संवेदनिक यथातथ्यता में पकड़ता और प्रकट करता है। सत्य को इमोशनल प्रिसिजन के साथ मूर्त करते हुए उसे संभाव्य के क्षेत्र में घटित करने का यह काम उस तरह और कोई नहीं कर सकता। क्या ऐसा नहीं लगता कि भाव जगत् का यथातथ्य एकाग्र भाविक सम्प्रेषण अधिक महत्वपूर्ण है—बनिस्बत उसकी मात्र वैचारिक व्यवस्थिति के। बल्कि जो भाव जगत् की ज्यादा बड़ी अराजकता से जूझते हुए एक सूक्ष्म संतुलन और व्यवस्था उत्पन्न कर सकता है वह प्रकारान्तर में आदमी की बुद्धि-ऊर्जा को भी उसकी सही जगह पर एकाग्र और संतुलित करने में मदद करता है। क्या यह स्वाभाविक नहीं कि ऐसी अर्जित भाविक यथातथ्यता अपने सृजन की ही बौद्धिक यथातथ्यता को भी उकसाए ? मनुष्य की बुद्धि ऊर्जा के लिए उसकी भाव ऊर्जा की कसौटी पर भी खरा उतरना आवश्यक है। नहीं तो यह बुद्धि ऊर्जा एकांगी और

अतिचारी अहकृति बनकर एक जीवन द्राही और अतत मानव द्रोही रूप ले सकती है और ले ही रही है।

इसका मतलब यही हुआ कि साहित्य म सच्चाई की माँग को पूरा करना अनिवाय होते हुए भी कही अधिक दुस्साध्य है। एक कलाकार के लिए 'विकास' का – 'अनुभव परिपक्व' होने का – अथ और तक ठीक वही नही हो सकता जो एक वज्ञानिक के लिए, या, यहा तक, कि एक योगी के लिए होता है। योग साधना मे ता कभी कभार ऐसा भी देखा गया है कि साधक ने कई सीढिया एक बारगी फलाग ली। पर साहित्य की प्रत्रिया कुछ अलग तरह की प्रतीत होती है। वहा की 'कृपा या ग्रेस तथा यहाँ की 'प्रेरणा' या 'एपिफ़नी' एक ही तरह स काम नही करती। अब सवाल यह उठता है कि किसी अनुभव या सवेदन को—उसके मूल उद्वेग और उत्ताप म ही नही, बल्कि अनुभव करने वाली चेतना म उपस्थित और अतर्निहित दूसरे समवर्ती अनुभव सस्कारो की समकालिकता म पकडने और झलकाने की विधि क्या हो सकती है?

किसी भी अनुभव पर भाषिक सप्रेषण के दौरान असत्य हो जाने के दो किस्म के खतरे मँडराते प्रतीत होते है एक ओर भाव रूढियो की दलदल महज आत्माभिव्यक्ति की राहत के मोहपाश के जरिए उस अपनी तरफ खीचती है, तो दूसरी ओर अमूत्त विचारो का बौद्धिक आकषण उसे आसानी से रागोत्तीण हो जान की सुविधा तक से लुभाता है। 'सत्य की ओर ले जाने वाला पथ छुरे की धार सरीखा तीखा और कठिन होता है, यह बात यहा मार्मिक ढग से लागू होती है। निश्चय ही, जिसे ऐसी यथा तथ्यता की, ऐसी 'इमोशनली प्रिसाइज' अभियक्ति की दरकार है, उसे अपनी रचना यात्रा मे बारम्बार इस तरफ या उस तरफ फिसल जान की—इस या उस झूठ से घिर जान की आशका रहगी। निमल वर्मा की एक कहानी याद आ रही है – 'एक दिन का मेहमान' – जिसका नायक आत्म ग्लानि और आत्म ज्ञान के एक चरम क्षण मे जो कहना चाहता है, वह एक 'बडा सच' है जो 'बहुत सारे झूठो के मिलने' से बनता है। यह सिफ इसलिए नही है कि वह इन झूठो को अपनी पश्चाद्‌बुद्धि स देख पा रहा है। इसलिए भी नही, कि वह अपनी भावुकता और अपनी बौद्धिकता दोना की अपर्याप्तता से त्रस्त है। बल्कि इसलिए भी, कि उसका 'सत्य' वास्तव म उन जीकर जाने हुए 'झूठो के बीचोबीच से होकर गुजरता है।

हमने देखा कि मनुष्य की चेतना चीजा और सम्बधा से प्रभावित और परिभाषित होते हुए भी दोनो से उबरने की छटपटाहट भी लिए हुए है।

उसकी प्रकृति द्वन्द्वात्मक है प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक दोनों। अगर यह सही है तो फिर भी सही होना चाहिए कि तब साहित्य में मानव सत्य को मानव अनुभूति की वास्तविकताओं को प्रत्यक्ष कर सकने वाली भाषा वही होगी जो चेतना के इस उभय सम्भव धर्म को प्रतिबिम्बित करे। यानी ऐसी भाषा जिसमें प्रकृति भी हो और पुरुष भी, जिसमें चीज़ें भी बोलें, सम्बन्ध भी, और उनसे लगाव या विलगाव का अनुभव करने वाली चेतना की तात्कालिक और समकालिक हरकतें भी। सभ्यता की प्रारंभिक और अत्याधुनिक दोनों ही अवस्थाओं में इस भाषा की हरकत को देखा जा सकता है। जब चराचर सृष्टि के साथ सार्थक सम्बन्ध की अनुभूति मानव चेतना में सर्वोपरि सक्रिय थी तो सत्य का मतलब इस लगाव का उच्चारना भी था और कविता इस जुड़ाव की उत्सव धर्मी चेतना की अभिव्यक्ति भी थी। अब या तो सभ्यता के विकास की गति सरल से जटिल की ओर—अर्थात अलगाव और विशेषीकरण की दिशा में होती है और तब इस तर्क से कविता का महत्व—सब कुछ को जोड़ने, अर्थ देने वाले सत्य के संवाहक के रूप में घटते ही जाना चाहिए। पर देखा गया है कि आधुनिक साहित्य में भी साहित्यकार ने—उसी जोड़ने वाले एकत्व स्थापित करने वाले, मगर चारों तरफ से आक्रान्त और विघटित सत्य की रक्षा के लिए अपने विशिष्ट मोर्चे सम्हाले हैं और शुद्ध वैज्ञानिक या धर्मशास्त्री की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक मोर्चे सम्हाले हैं। यह भी स्पष्ट ही है कि स्वधर्म निर्वाह की इसी तत्परता की बदौलत स्वयं पश्चिम के साहित्यकर्मियों ने अपनी सभ्यता की मूल प्रतिज्ञाओं की ही अनिवार्य परिणति स्वरूप इस एकांगी विज्ञान और राजनीति के अतिचारों के बीच भी साहित्य को उसकी अपनी धुरी पर कायम रखने की जी तोड़ कोशिश जारी रक्खी है। कथा साहित्य का ही उदाहरण लें तो ब्रूनो शुल्ज़ और मिलान कुन्देरा जैसे लेखकों का कृतित्व अपनी परिस्थिति में लिए जा सकने वाले इस रचनात्मक और मौलिक प्रतिशोध का यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है।

आखिर कोई भी लेखक-कलाकार क्या रचता है और क्यों रचता है? वह जीवन की पुनरचना करता है या स्वयं इस संदिग्धता में फँसी मानव आत्मा की? इस पुनरचना की जरूरत क्या पड़ती है। महज़ जीना महज़ बचे रहना क्या पर्याप्त नहीं लगता? क्या व्यापक जीवन की अपूर्णता—विकारग्रस्तता में बसत व्यक्तिगत जीवन की पूर्णता सम्भव है? रचना का स्वभाव — रचने की प्रकृति — क्या अन्ततः आत्मदान के द्वारा अपने असाध्य में लगने वाले अधूरेपन और अकेलेपन के भाव से उबरने की प्रवृत्ति ही नहीं

है ? फिर प्रेम साहित्य का सनातन और अधुनातन विषय भी क्या न हो ? आसक्ति और अनासक्ति के सारे दर्शन और द्वन्द्व क्या इस मूल द्वन्द्व से ही नहीं उपजते ? वह क्या है जो एक साथ ही मनुष्य जीवन का एक प्रमुख पुरुषार्थ भी है और 'महाशन' 'महापाप्मा' भी ? वह क्या है जिसे इस सदी का एक प्रमुख आधुनिक कवि 'द अनक्वाकरेबल मिस्ट्री आन द बीस्टियल फ्लार' कह के पुकारता है ? क्या कारण है कि भारतीय मानस को, जीवन के भारतीय अनुभव और मूल्य-बोध को मनुष्य की इस दुहरी जरूरत और वृत्ति को परिभाषित करने के लिए लीला और मर्यादा के दुहरे मिथकों की जरूरत पड़ी ? भारतीय जीवन और भारतीय धर्मकल्पना में, भारतीय पुराण और भारतीय साहित्य में भी नर नारी युग्म के सत्य को केन्द्रीय महत्व क्या मिला ? पश्चिमी समाजों की तरह इस वास्तविक और मूलभूत द्वन्द्व का साम्राज्यवादी पुरुषत्व के एक नकली अद्वैत में ही क्या नहीं घटा और घुला दिया गया ?

मैंने कहा कि वर्तमान युग साहित्य में सचाई के जिस आग्रह को प्रतिष्ठित करता है, वह एक ऐसी भाषा की माँग करता है जो वस्तुओं और सम्बन्धों के एक बहुत बड़े जाल को आवर्ती काल के विन्यासों में यथावत् अभिव्यक्त कर सके। विषय की दृष्टि से स्त्री पुरुष सम्बन्ध की सूक्ष्मग्राहिता का भी उल्लेख हुआ। इसलिए, कि मानवीय अहं लीला और अहं मुक्ति की जरूरत भी यहाँ एक से एक विकट चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं और युग सत्य को तथा उससे उलझने वाली चेतना के पुरुषार्थ को भी हमारी चेतना के सबसे संवेदनशील परदे पर अंकित करती है। प्रसंगवशात् यदि हम बीसवीं सदी के हिन्दी कथा साहित्य को इस कोण से भी देखें-परखें तो कई मार्मिक संकेत उभरेंगे। मसलन, 'कंकाल' में ही भारतीय समाज की अधोगति और कुण्ठाकीर्णता को स्त्री पुरुष सम्बन्धों में घुस आए पाखण्ड और झूठ के जरिए इस तरह उघाड़ा गया है मानो दोनों के बीच एक कार्यकारण सम्बन्ध हो। इसी तरह 'तितली' में भी भारतीय समाज और मूल्यदृष्टि के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान दाम्पत्य सम्बन्ध की विडम्बना को तीखे ढंग से उभारा गया है। एक जगह तो प्रसाद ने 'स्त्री' को 'प्रेम करने के लिए लाचार' बना दी गई 'गृहहीन अपराधी जाति' तक कहलवाया है अपने एक पात्र के मुख से। समाज की अन्दरूनी रुग्णता का ऐसा पता देनेवाला कोई धर्माचार्य या निरा समाज-सुधारक-विचारक नहीं हो सकता। यह अन्तर्दृष्टि तो, जिन्हें हम लेखक कलाकार कहते हैं वही हमें दे सकते हैं। पुरुष द्वारा कुण्ठित स्त्री की जीवन-ऊर्जा (या कभी कभार इसका

ठीक विपरीत भी) समाज और उसके मूल्यों से किस तरह बदला ले सकती है, इसके संकेत प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के कथा साहित्य में जहाँ तहाँ देखे जा सकते हैं। क्या यह भी एक अनमल संयोग भर है कि इस नई नारी और नई नैतिकता को लेकर जो प्रश्नाकुलता उभरी, उसका सबसे आग्रहपूर्ण और पुनरावर्ती रूप भी किसी तथाकथित पश्चिमाभिमुख लेखक के जरिए नहीं, बल्कि एक गांधीवादी कहे जाने वाले लेखक की कथा सृष्टि के माध्यम से ही सामने आया? इसी सिलसिले में आगे जाकर संस्कारगत रूढ़ियों और रिश्तों की घुटन के बीच उस स्वाधीन मूल्यान्वेषी व्यक्तित्व की खोज का उपक्रम भी आकार ग्रहण करता दिखाई पड़ता है जो परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों को भी रूढ़ियों की दलदल में निकाल कर यथार्थ जीवन के जोखिम भरे खुलेपन में खींच ला सके।

किसी भी समाज और सभ्यता के संकट (या कह लीजिए, रोग) उसके सबसे संवेदनशील और अग्रगामी सदस्यों में प्रकट होते हैं। साथ ही इस संकट अथवा रोग के लक्षण ही नहीं निदान और प्रतिकार के संकेत भी समाज के इन्हीं सृजनधर्मी आत्म केन्द्रों के जरिए प्रगट होंगे। क्या यह देख पाना—बिना किसी रोमानी अतिरंजना के—सम्भव नहीं, कि कवि—कलाकार वर्ग के ये बुद्धिजीवी अपने समाज के बलि पुरुष भी कहे जा सकते हैं और आरोग्य-विधाता भी। जीवन के मूल्य स्वयं जीवन की गति या गतिरुद्धता के फलस्वरूप विस्मृत या विकृत हो जा सकते हैं। परस्पर विरोधी संस्कृतियों और जीवन दृष्टियों की अधूरी अथवा पूरी टकराहट के फलस्वरूप जो अनिश्चय और दिग्भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसके चलते भी एक मूल्यमूढ़ता और मूल्यगत अराजकता छा जाती है। इस परिस्थिति का वास्तविक रचनात्मक प्रतिकार अकेले मूल्यान्वेषी चिंतन से या सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के कर्मकाण्डी उद्योग से नहीं हो सकता। यह सब भी अपनी जगह काम का हो सकता है, किन्तु महज आदर्शों पर बल देने से अथवा यथार्थ का बौद्धिक आकलन भर करके अतीत के किन्हीं सांस्कृतिक मानदण्डों से वर्तमान को माप लेने या पीट देने भर से अधोगति को नहीं थामा जा सकता। नैतिक दायित्व का निर्वाह भी, लगता है मात्र नैतिकता के स्वयं पर्याप्त वृत्त के भीतर सीमित नहीं किया जा सकता। जीवन का ऋणशोध जीवन देकर ही हो सकता है। इस रचनात्मक जीवन ग्रहण और जीवन दान के लिए रचनात्मक कर्म चाहिए, उच्चकोटि की भाविक सामर्थ्य और कल्पना शक्ति चाहिए। सृजनशील लेखक की चेतना एक गहरे और विशिष्ट अर्थ में प्रातिनिधिक चेतना होती है। व्यक्ति के रूप में वह चाहे

जितने ऊचे सास्कृतिक–नतिन मानदण्डो का कायल हो, रचनाकार की हैसियत से उसकी चेतना और कल्पना अपने युग और परिवेश मे व्याप्त सग्रामको से अछूती नही रह सकती। वह समाज मे व्याप्त अनिश्चय, विकार और झूठ का द्रष्टा और भोक्ता दोना अपने ढग स होगा ही। यह परकाय प्रवश उसका स्वधम है। कह लीजिए, उसका अभिशाप है। पर यही वेध्यता तो उसके होने को उसके समाज के लिए अतिरिक्त रूप से मूल्यवान बनाती है। जीवन के झूठ सच म गहरी पठ और प्रत्यक्ष भुक्त – भाग सरीखी कल्पनाप्रवण भागीदारी ही उसके द्वारा उद्घाटित सच्चाई और मूल्य दृष्टि को एक सचमुच की राग प्रेरित, रागोत्तीण सच्चाई और एक सचमुच जाखम मे पडकर उबरी हुई खरी मूल्य दृष्टि भी बनाती है। अपन समाज के जीवन मरण की—आदश और यथाथ के बीच के अतराल की—यह अस्तित्वसिद्ध पहचान ही तो उसे वह सूक्ष्मग्राही बोध य त्र बनाती है जो और कोई उस तरह बनाने वाला नही है।

ऐसे सूक्ष्मग्राही वेदन त न्त्र से सम्पन्न लेखक को जहा एक आर जीवन और जीवन मूल्यो के किसी अच्युत आधार की तलाश और प्रतीति हा सकती है, वही उसी जीवन और उसी मूल्य चेतना के स्खलन और विडम्बन के चरम रूपा की भी। इसी नाते कहो लगता है कि इस लेखक रूपी भोक्ता साक्षी की भूमिका आज के इस अस्थिर और दुश्चित्तेपन से ग्रस्त भारतीय समाज म विशेष रूप से अथवान है। न केवल इसलिए, कि वह मूल्यो के सकट का प्रामाणिक और यथातथ्य अत साक्ष्य रच सकता है, बल्कि इसलिए भी, कि जीवन मूल्या का जो परपरागत स्रात यहा कमोबेश एक लम्बे अरसे तक प्रवाहित रहा है, वह न केवल काफी कुछ अवरुद्ध हो चुका है, प्रत्युत दिशाहीन राजनीति और उपभोक्ता सस्कृति के त त्र के पीछे ओझल भी हो गया है। उसमे जो सत्व अभी तक शेप और क्रियाशील है वह भी समाज को प्रभावी ढग से अनुप्राणित कर सकने की स्थिति मे नही दीखता।

कालिदास की एक प्रसिद्ध उक्ति यहा बरबस स्मरण हो आती है कि विकार को परमाथत जाने बिना उसके प्रतिकार की चेष्टा का आरम्भ भी नही हो सकता। पर यह परमाथत जानना क्या होता है और उस ज्ञान का अधिकारी कौन है? क्या वह निरपेक्ष तकबुद्धि, जो किसी भी चीज का औचित्य गढ सकन वाली है? विकार को परमाथत जानना तो उसी के लिए सम्भव है, जा मनुष्य को उसके हर काश की वास्तविकता म अनुभव कर सकता है और जो उसकी जविक वृत्तिया से लेकर मनोमय विज्ञानमय

मुक्ति चेष्टाओं तक का भोक्ता और साक्षी है। यानी, जिस न तो निर्बुद्धि हो जाने की छूट है, न तकजीवी बनकर समस्त विश्व प्रपच को एक बलात्कारी व्यवस्था में घुला और घटा देने की। अपनी संस्कृति और इतिहास को लिए दिए हमारा भारतीय समाज पिछले दो ढाई सौ बरसों से परस्पर विरोधी मूल्यों और कर्म प्रेरणाओं की जिस टकराहट से, चेतना की जिस दुविधा और दिग्भ्रान्ति से गुजरा है, उसकी पकी हुई पराकाष्ठा ही सभवत अब हमारे सामने है। किन्तु आत्म नवीकरण की, सामाजिक आध्यात्मिक पुनर्जन्म की प्रतिमाएँ कितनी कठोर होती है, कितने खतरे उसके लिए उठाने होते है इसका सही सही अनुमान इस शताब्दी के आरम्भ से ही सक्रिय हमारे अग्रणी विचारकों और कर्मियों का नहीं था, यह मानना कठिन है। कहना न होगा कि समाज में कवि कलाकारों की जिस भूमिका की बात यहा की गई, उसका निश्चित सम्बन्ध इस खतरे उठाने वाले जीवन बोध और मूल्य दृष्टि से भी है ही।

साहित्य और सामाजिक परिवर्तन
कुछ विचारणीय मुद्दे

साहित्य को अगर लिटरेचर के पर्याय के रूप मे ल ता लेखन कला के आरम्भ के साथ ही स्थितिशील सामाजिक सम्ब धा म दूरगामी परिवतना की प्रक्रिया का आरम्भ देखा जा सकता है। मनुष्य की प्राकृतिक एकता स्वयसिद्ध है तो क्या ऐसी कल्पना सम्भव है कि सारा मानव समाज एक सास्कृतिक एकता की ओर बढ रहा है ?—उसी परिवतन, टकराहट और प्रगति के कारण, जिसन अलग अलग समुदाया की आदश एकयमूलक सरचनाओ को भग किया ? या कि इसके विपरीत यह कहा जाय, कि समूचे मानव समाज के सास्कृतिक एकीकरण का विचार एक विचार भर है—एक असभव स्वप्न, और केन्द्रीकरण की वजाय विकेन्द्रीकरण ही मनुष्य के साथक सामुदायिक जीवन की आधारभूत प्रतिज्ञा है ?

सस्कृति से हमारा तात्पय उन सम्ब धा से होता है जो किसी सभ्यता के सदस्य ससार के साथ बनाते है। समाज उन सम्ब धो का नाम है जो वे सदस्य आपस मे एक दूसरे के साथ बनात है। दोना मे साहित्य की—कहना चाहिए वाङमय की भूमिका बहुत महत्वपूण है क्योकि 'वाक्' का आरम्भ ही सस्कृति का भी आरम्भ है।

साहित्य को यदि एक आर समाज के दपण के रूप म देखा गया है तो दूसरी ओर इसके एकदम विपरीत छोर पर उस 'रेवेलशन आफ ए हिडन लाइफ' माना गया है। लेवी स्त्राउस सरीखे आधुनिक नृतत्वशास्त्री तक की साहित्य से अपेक्षा का रूप यह है कि 'वह उसे मानव समाज से छुटकारा दिलाकर एक भिन्न समाज मे प्रवेश दिलायेगा'। इस अपेक्षा को पलायनवाद या प्रतिक्रियावाद कह दना आसान न होगा क्योकि व्यक्तिवादी तथा कलावादी कही जाने वाली प्रवृत्तिया के साथ सबसे ज्यादा गहरी और तात्विक लडाई नृतत्वशास्त्र की जमीन पर ही लडी गयी है। साहित्य अगर दपण है तो उसे हर सामाजिक परिवतन को प्रतिबिम्बित करना चाहिए और अगर वह 'जीवन की छुपी हुई सम्भावना का उद्घाटन' या एक बेहतर, सूक्ष्मतर जीवन का सूचन है तो भी

शायद एक क्रियात्मक प्रेरणा के रूप में उस सामाजिक परिवर्तन का दिशा-निर्देशक बन जाना चाहिए।

इन दोनों परिभाषाओं के बीच यह तीसरी परिभाषा भी है जो साहित्य को 'जीवन की आलोचना' मानती है। आलोचना है, तो उसमें स्वीकार या निषेध, उत्सवधर्मिता तथा विद्रोहधर्मिता दोनों पक्ष होंगे। यह शक्ति ही समाज और संस्कृति की रचना और स्थिरता के मूल में थी। पर विरोधाभास यह कि वही यह शक्ति जो आदिम समाज को एकजुट रखती है, वही—नृतत्वशास्त्र की खोजों के मुताबिक—उसी समाज में वर्ग और जातिगत वैषम्य को, स्वामित्व और अन्याय को भी जन्म देती है। यानी भाषा जहाँ एक ओर मानवों के बीच की एकता सिद्ध करती है, वहीं दूसरी ओर वह अनेकता और असामंजस्य का भी निमित्त बनती है। तो क्या इसी अनेकता और वैषम्य को फिर से एकता और समता में परिवर्तित करने के लिये मानव चेतना उस चीज़ को जन्म देती है, जिसे विद्रोह कहा जाता है? इस तरह देखा जाय तो सामाजिक परिवर्तन के पीछे भी दो विरोधी प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। एक तो भौतिक ज्ञान की वृद्धि के साथ और सामाजिक विभवान्तर के चलते होने वाली प्रगति तथा दूसरी ओर इस विशेष ज्ञान और विभवान्तर के विरुद्ध—इससे उत्पन्न असंतुलन की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मी विद्रोह-वृत्ति।

•

आधुनिक उपन्यासकार कामू ने मनुष्य में निहित इस विद्रोह-वृत्ति का गहरा चिन्तन किया है। कला उसके अनुसार सौन्दर्यमूलक सत्याग्रह का, समष्टिगत ऐक्य का और मनुष्य में अन्तर्निहित एक बेहतर संसार की माँग का विशुद्धतम रूप है। 'कला में ही वस्तुतः अन्याय के प्रति मनुष्य का वास्तविक विद्रोह अपनी मूल जटिलताओं की संश्लिष्टता में प्रकाशित होता है'—ऐसा उसका निष्कर्ष है।

कामू की प्रसिद्ध कहानी 'द आर्टिस्ट' का नायक कई-कई हफ्तों तक एक चित्र के निर्माण में जुटा रहता है। जब चित्र पूरा होकर उत्सुक दर्शकों के समक्ष आता है तो वहाँ कोरे कैनवस पर मात्र एक शब्द अंकित है और वह शब्द है—सॉलिडरिटी। सॉलिडरिटी—यानी व्यक्ति की अपने समुदाय के साथ एकप्राणता। हमारे यहाँ साहित्य का अर्थ ही 'सहित होने का भाव' है। साहित्य यानी कम्युनिटी, सॉलिडरिटी। मगर किस के साथ सॉलिडैरिटी? मानव समाज के साथ? अथवा चराचर सृष्टि के साथ। क्या सॉलिडरिटी अथवा साहित्य भाव की भी भारतीय और पश्चिमी अवधारणाओं में कोई अन्तर है?

दास्ताएवस्की के 'द ब्रदर्स करमाजोव' का दिमित्री एक जगह कहता है If all

are not saved what good is the salvation of one only ? सच पूछा जाय तो विद्रोह की प्रेरणा का तात्विक आधार ही इस व्याकुल उद्गार मे निहित मर्मानुभूति है जो किसी देश-काल तक सीमित नही, अलग अलग सभ्यताओ मे भी इस प्रश्न की टकार समान रूप से गूजती सुनाई देती है। ययाति की पुकार अथवा अवलोकितेश्वर की अवधारणा क्या मनुष्य—'मानवीय मध्यवर्ती'—की इसी व्याकुलता को ध्वनित नही करती ? दूसरी ओर क्या इसी प्रश्न का एक रूप वह भी नही है जो मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्यसे पूछा था—'येनाह नाऽ मृतास्याम किमह तेन कुर्याम ?' क्या इन दो – ऊपर से विरोधी सी लगती, मगर वस्तुत एक दूसरे से अनिवार्य रूप से जुडी – जिज्ञासाओ मे ही मनुष्य की स्थितिशीलता और मनुष्य की प्रगतिशीलता का —मनुष्य की समूची अन्तर्विरोधग्रस्त विकास यात्रा का भी तर्क और मर्म नही ढूढा जा सकता ? आखिर कामू के कथनानुसार भी — 'प्रत्येक विद्रोह अपने आत्यन्तिक स्वरूप मे मनुष्य का अपनी मरणधर्मा नियति के विरुद्ध विद्रोह' ही तो है। इतना ही नही इस विद्रोह का एक सर्वथा घनात्मक और जीवनदायी मूल्य भी है। क्योकि विद्रोह वही सार्थक है जिसके द्वारा मनुष्य बलिदानपूर्वक यह साबित करता है कि उसकी वास्तविक मुक्ति औरो की हत्या की छूट मिल जाने और उसे तर्क औचित्य दे देने मे नही है, बल्कि स्वय अपनी मृत्यु के तथ्य से स्वाधीनता अर्जित कर लेने मे है।

स्वाधीनता की – सापेक्ष मुक्ति की – यह अवधारणा न तो ससार त्यागी सन्यासी के लिए सम्भव है न निरे भौतिकवादी-नकारवादी के लिए। क्या कामू का औपन्यासिक कृतित्व और क्या उसका दार्शनिक चिन्तन दोनो ही इन दो सपाट विकल्पो की क्रूर विडम्बना को उजागर करते हैं। उसकी सारी शिकायत ही इस बात को लेकर है कि जीवनदायी विद्रोहमूलक क्रान्ति चेष्टा की परिणति एक निहिलिस्ट और सर्वसत्ताकामी क्रान्ति वाद मे क्या हुई ? यह अकारण नही है कि हमारे स्वाधीनता-सग्राम के एक क्रान्तिकारी चिन्तक को भी अपने पूर्ण योग के दर्शन की आधार भूमि सन्यास दृष्टि और भौतिकवादी दृष्टि दोनो का प्रत्याख्यान करके मिली। कामू जिस एकता जिस सवाद को अपने सृजन और विद्रोह चिन्तन का मूलाधार स्वीकार करता है, वह ससार मे मानव जीव की अवस्थिति की—उसके अपने शब्दो मे 'ह्यूमन कण्डीशन की—यूनिटी है। इसी एकता की प्रेरणा उसे एक ओर इतिहास की गुलामी ढोने से विरत करती है और दूसरी ओर उस 'एब्सोल्यूट' की, जो सृष्टि से बाहर होने हुए भी मानव इतिहास के केन्द्र मे होना चाहता है। हमारी परम्परा मे यदि साहित्य का एक मुख्य प्रयोजन 'शिवेतरक्षति' भी माना

गया है तो उसका तात्त्विक आधार यही है कि जीवात्मा अपनी मुक्ति के लिये भी जीवलोक पर अवलम्बित है क्योंकि सच्चिदानन्द स्वयं स्वेच्छा से सृष्टि बंधन स्वीकार करता है। ममदाशा जीवलोके जीवभूत सनातन 'आत्मा ईश्वर से वंचित होना भले स्वीकार कर ले, जीवलोक से बहिष्कृत होना चाहना उसका स्वभाव धर्म नहीं है। आनन्द कुमारस्वामी के अनुसार तो पहला विकल्प ही कहीं अधिक वरणीय है इट इज मोर नससरी दट द सोल लूज गॉड दन दट शी लूज कीचस द सोल आनम गाड मोम्ट इन बीइग विवट ऑव गॉड'। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्थिति स्थापकता और विद्राह स्वीकार और निषेध, आनन्द बोध और दुख बोध मानवीय चेतना और सृष्टि दाना के तल में एक मौलिक द्वन्द्व के रूप में अवस्थित है, और हर सभ्यता को अपने भीतर में जहाँ एक याज्ञवल्क्य की जरूरत पड़ती है वहीं एक गौतम बुद्ध की भी। क्योंकि नतत्वशास्त्री कला को प्रकृति से संस्कृति में संचरण का सबसे सशक्त और अनिवार्य माध्यम मानते हैं अतः स्पष्ट ही कला को एक दोहरा दायित्व वहन करना होता है आदिम मनुष्य की एक्यमूलक संस्कृति में ही नहीं बल्कि सभ्य मानव समाज की अन्तर्विरोधग्रस्त विकास यात्रा में भी। कला का स्वभाव और धर्म किसी भी युग में मानव स्वभाव और धर्म से अलग नहीं। कुमारस्वामी के कथनानुसार

We are archetypal inwardly and phenomenal outwordly Man is not called upon to deny any part of his nature but to bring higher and lower essence and nature into hormony

कामू के चिंतन में भी मानव नियति की ऐसी अनिवार्य विशेषता का उसके अपने अस्तित्ववादी दर्शन के सन्दर्भ में प्रतिपादन किया गया है।

"निहिलिज्म और केवल निहिलिज्म का वरण करना नकारवाद (निहिलिज्म) का वरण करना है। मनुष्य में निहित विद्रोह तत्त्व की स्वीकृति कभी विडम्बना और क्या हो सकती है? यह विचार जिसका उद्गम केवल इतिहास में है वह भी मनुष्य का [illegible] के कारण और जीवन के साधना में उतना ही आर्य [illegible] वंचित करता है जितना कि यह विचार जो निहिलिज्म को पूरी तरह अस्वीकार करता है'।

●

[illegible] कलाएँ परिवार में प्रभावित होतीं और स्वयं उसको दिशा निर्धारित करने में [illegible] हिन्दुस्तानी [illegible] में [illegible] होती है। साहित्य में भी [illegible] की [illegible] में [illegible] नहीं [illegible]।

पर देखा गया है कि हर बडी उथल पुथल के समय कवियो के सामन भी यह सकट उपस्थित हुआ ही है कि वे महज द्रष्टा बने रह अथवा सग्राम मे कूद पडें। स्पेन की मुक्ति के लिए 'इटरनेशनल ब्रिगेड' मे शामिल हो कर कई लेखको ने अपने जीवन की आहुति दी। एक शताब्दी पहले यूनानी स्वतत्रता के मोर्चे पर रोमानी कवि बायरन ने भी यही किया। पर जिन लोगो ने ऐसा नही किया, उनका क्या दृष्टिकोण था ? क्या वे कायर या सुविधाभोगी थे ? क्या वे स्वधर्म की पहचान और उसके द्वारा निर्दिष्ट कर्म को चुनने के साहस से शून्य थे ? मुझे यहाँ वर्डस्वर्थ के प्रिल्यूड का वह प्रसग याद आता है जहा वह अपनी युवावस्था की उस दुविधा का जिक्र करता है और फ्रास की राज्य क्रान्ति मे अपने भाग न लेने के निर्णय का अन्तर्मुख मूल्याकन करता है

11,39
915

इस म सन्देह नही — मुझे उनका साथ देना था
जिन्होने अपनी आहुति दी। शायद मुझे भी बलि चढ
जाना था
पर ऐसी भेंट होती वह मेरी — नाचीज, गलत और
भ्रान्त।
हाँ मुझे लौट जाना था प्रकृति की गोद मे
अपने सारे सकल्पो और सम्भावनाओ के साथ
केवल अपने लिए कवि — और समूची मानवता के लिए
अनहुआ और निष्फल — और तुझे भी बिना जाने —
पहचाने
ओ मित्र मेरी आत्मा के।

वर्डस्वर्थ पाता है कि उसका निर्णय सही था एक निष्फल और अनावश्यक शहादत से अधिक जरूरी था ऐसे समय — पूरे होशोहवास से जीते रहना और उस कठिन समय का जीवन्त साक्ष्य रचना।

पर क्या बीसवी शताब्दी के कवि के लिए इस प्रकार का निर्णय लेना — एक समानान्तर और किसी हद तक कठिनतर परिस्थिति मे — उतना ही सहज और औचित्यपूर्ण हो सकता है, जितना रोमैण्टिक कवि वर्डस्वर्थ के लिए एक शताब्दी पहले था ? न सही अपनी, पर दूसरो की शहादत के प्रति कवि का दृष्टिकोण क्या हो सकता है इसका सबसे मार्मिक उदाहरण है यीटस की वह प्रसिद्ध कविता जिसमे उसने ईस्टर के दिन शहीद हुए दस क्रान्तिकारियो का स्मरण किया है। कवि की प्रतिक्रिया दोहरी है। एक ओर वह

अनुभव करता है कि एक ध्येय का समर्पित हृदय पत्थर की तरह हो जाता है जो जीवन के—स्वाभाविक प्रवाह में बाधा उपस्थित करता है—

Hearts with one purpose alone
enchanted to a stone
To trouble the living stream

तो दूसरी ओर वह इस घटना में बहुत गहरे विचलित हो उठता है और उसे लगता है इस घटना के बाद अब दुनिया यथावत् नहीं रह गयी। एक भयानक सौन्दर्य का आविर्भाव हो गया है। पूरी कविता की टेक की तरह यह पंक्ति ए टेरिबल ब्यूटी इज बोर्न बार बार कवि के भीतर, कवि के बावजूद गूंजती रहती है। निश्चय ही सामाजिक परिवर्तन के प्रति कवि दृष्टि का यह एक कहीं अधिक मार्मिक कहीं अधिक ऐतिहासिक और कहीं अधिक मूलभूत साक्ष्य है। इसलिए कि इस के पीछे रोमेण्टिक कवि की 'सिंसियरिटी' से कहीं बलवत्तर एक आधुनिक कवि की ऑथेंटिसिटी बोल रही है। ऐसी 'आथेंटिसिटी' जहाँ कवि मानो अपने व्यक्तित्व से उबर कर सहसा एक पूरे समाज के अनुभव को, या कहना चाहिए एक सामूहिक अवचेतन के अप्रकट सत्य को वाणी देने का माध्यम बन जाता है। कहना न होगा कि उसकी यह भूमिका आदिम समाज के पुरोहित या ओझा की तरह भी है और एक ऐतिहासिक समाज के प्राफेट सरीखी भी।

वैसे क्रान्तिकारियों के प्रति एक तरह का सम्मोहित भाव कवियों में ही क्यों, कथाकारों में भी पाया जाता है। सुदूर के रहस्यवाद की बजाय यह निकट का रहस्य लेखकों के लिए—उनकी अपनी बौद्धिक दृष्टि से असंगत और अस्वीकार्य होते हुए भी रागात्मक स्तर पर स्पृहा का विषय ही होता है यह एक बड़ी स्वाभाविक सी बात है और इसका दृष्टान्त शास्ताएवस्की जैसे भुक्तभोगी लेखकों में ही नहीं जैनेन्द्र जी जैसे अहिंसावादी लेखकों में भी देखा जा सकता है। सवाल सिर्फ क्रान्ति का नहीं है समाज जीवन में उलट फेर करने वाली हर वस्तु और हर विचार का है सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं और प्रतिक्रियाओं का है जो 'रहस्य' नहीं है। साहित्यकार उससे प्रभावित होता ही है उसकी संवेदना पर उसकी छाप पड़ती ही है। चाहे वह उस परिवर्तन को इष्ट समझे अथवा अनिष्ट दोनों ही सूरतों में वह उसका संवेदनात्मक प्रत्युत्तर गढ़े बिना रह नहीं सकता। साहित्य का उद्देश्य शीर्षक अपने निबन्ध में प्रेमचन्द ने इसी अनिवार्यता को इसी विवशता को दर्ज किया है।

'साहित्य का सब से ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति

के लिए की जाय जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने पद से गिर जाता है, लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता।' प्रेमचन्द ने आज के समय में साहित्य और साहित्यकार की जटिल समस्या को कुछ सरलीकृत रूप में ही सही, मगर साफ साफ सामने रख दिया है। प्रेमचन्द कथाकार थे और कथाकृति—विशेषकर उपन्यास का सामाजिक परिवर्तनों से साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कुछ ज्यादा ही घनिष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है। सर्वान्तीज से डिकेन्स तक और डिकेन्स से दॉस्तॉएवस्की तक इस सम्बन्ध की रूप रेखाएँ देखी जा सकती हैं। शायद ही कोई उपन्यासकार ऐसा मिले जिसके बारे में यह सौ फीसदी दावा किया जा सके कि वह प्रेमचन्दीय अर्थ में विशुद्ध कलावादी है। दूसरी ओर वॉल्तेयर सरीखे बुद्धिजीवी लेखक के उपन्यास को भी किसी सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक मत का प्रचारक ठहराना कठिन होगा। मगर प्रेमचन्द के वक्तव्य में जिस मूल द्वन्द्व को अंकित किया गया है वह उन्नीसवीं बीसवीं सदी के उपन्यासकारों की खास अपनी पहचान है, इसमें सन्देह नहीं है। इस द्वन्द्व का सबसे तीखा प्रमाण यही है कि वह अपने मत से विकट रूप में स्वयं इस युग के महानतम उपन्यासकार तॉल्स्ताय में प्रकट हुआ कला और नैतिकता के द्वन्द्व के रूप में। प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में तॉल्स्तॉय की अपेक्षा दॉस्तॉएवस्की का कृतित्व अधिक प्रासंगिक लगता है ठीक उसी तरह, जिस तरह उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी समाज और उसकी संवेदना के इतिहास में चार्ल्स डिकेन्स का औपन्यासिक कृतित्व जार्ज एलियट अथवा थैकरे की अपेक्षा अधिक प्रातिनिधिक और अधिक लाक्षणिक महत्व का जान पड़ता है। अगर यह सच है कि उपन्यास साहित्य की सब से नयी, सब से ऐतिहासिक (इतिहास जीवी भी किसी सीमा तक) और सब से विद्रोहशील विधा है, तो इन दो उपन्यासकारों की चर्चा इस सन्दर्भ में सार्थक होगी।

●

डिकेन्स के उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक स्थितियों और समस्याओं का प्रतिबिम्ब ही नहीं मिलता—वांछित परिवर्तनों का आग्रह और विद्रोहमूलक क्षोभ तथा आक्रोश का स्वर भी बराबर सुनाई देता है। सामाजिक सोद्देश्यता और मनोरंजक लोकप्रियता का ऐसा विचित्र मगर प्रभावशाली गठबन्धन शायद ही कहीं और दिखाई दे। शायद ही ऐसा दूसरा उदाहरण मिले जहाँ किसी लेखक ने अपने युग के यथार्थ और अपने युग की रुचि तथा मूल्यबोध को इतनी भावात्मक सहजता से अपनाया हो फिर भी इतनी

प्रकट सीमाओं के बावजूद वह एक 'क्लासिक' की तरह प्रतिष्ठित हो सका हो। आज भी बहुत सारे लोग डिकेन्स के उपन्यासों को तत्कालीन सामाजिक बुराइयों के विश्वसनीय दस्तावेज की तरह ग्रहण करते हैं — कुछ इस तरह, मानो वह उपन्यासकार न होकर एक महत्वपूर्ण इतिहासकार अथवा समाज सुधारक हो। स्वयं इतिहासकारों ने भी किसी अन्य अंग्रेज उपन्यासकार को वह सम्मान नहीं दिया है जो वे डिकेन्स को देते हैं। इंग्लैंड के स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली इतिहास की एक पाठ्य पुस्तक में डिकेन्स के हर उपन्यास का एक अध्याय उद्धृत किया गया है और यह दावा किया गया है कि प्रत्येक अध्याय एक न एक सामाजिक अन्याय का स्पष्ट निदर्शन ही नहीं उचित समाधान भी प्रस्तुत करता है।

दूसरी ओर एक समकालीन आलोचक का (और प्रशंसक आलोचक का) अभिमत भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है विडम्बना मगर यह है कि यह महान् लेखक बौद्धिक दृष्टि से कभी वयस्क हुआ ही नहीं। जहाँ भी डिकेन्स सामाजिक सुधार की बात करता है — बल्कि जहाँ भी वह समस्याओं पर सोचना शुरू करता है वहीं वह औसत से भी निचले दरजे की समझ का परिचय देता है। इतना ही कहा जा सकता है कि अन्याय के प्रति उसका आक्रोश एक सयाने संवेदनशील आदमी की तरह ही व्यक्त हुआ है। पर बस इतना ही।

न केवल आज के आलोचकों बल्कि डिकेन्स के समकालीन बुद्धिजीवियों का भी एक प्रभावशाली वर्ग लगभग इसी स्वर में डिकेन्स के सुधारवादी आग्रहों का मजाक उड़ाता था और उसे मिलावटी माल की तरह खारिज करता था। जब अवर म्युच्युअल फ्रेंड छपा तो उसकी समीक्षा करते हुए एक पत्रिका में उस पर यह कटाक्षपूर्ण टिप्पणी की गयी

सच्ची कला का आखिर 'पुअर लाज' और 'पुअर लॉ बोर्ड' सरीखे वक्ती और स्थानिक मामलों से भला क्या कोई सरोकार होना चाहिए। अगर महाशय डिकेन्स को 'पुअर लॉ' पर अपनी टीका टिप्पणी जाहिर करनी ही है तो हमारी उन्हें सलाह है कि वह या तो पम्फलेट लिखना शुरू कर दें या पार्लियामेंट का रास्ता पकड़ें। यदि डिकेन्स को मनुष्य स्वभाव के बारे में जरा भी जानकारी है तो उन्हें इतना तो मालूम होगा ही कि अंग्रेज जाति बड़ी व्यवहार कुशल जाति है और वह वास्तविक समस्याओं को वास्तविकता के धरातल पर ही निपटाने की अभ्यस्त है। उपन्यास में सुधारवादी आग्रह उसे बिलकुल नहीं सुहाते। और जहाँ तक एक उपन्यास लिख कर 'पुअर लॉ' को संशोधित करने

का बीडा उठाने का सवाल है, यह उतना ही हास्यास्पद है जितना पशुओ मे फले रोग की रोकथाम के लिये फौज बुलाने की सोचना।"

बात दरअसल यह है कि, डिकेन्स की करुणा और डिकेन्स का गुस्सा दोनो ही समकालीन समाज की एक मानसिक जरूरत की पूर्ति करते थे। सामाजिक समस्याओ के प्रति हजारो लोगो के भाव सवेदनात्मक दृष्टिकोण को उसने गहरे मे प्रभावित किया। एक धर्म प्रचारक ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'आज हमारे बीच कुल तीन ही सामाजिक प्रेरणा देने वाली शक्तियाँ हैं एक तो लदन सिटी मिशन, दूसरे हैजा और तीसरे डिकेन्स महाशय के उपन्यास।' मगर यदि कोई पूछे कि क्या डिकेन्स के उपन्यासो के जरिये सामाजिक परिवर्तन की दिशा मे कुछ ठोस नतीजे निकले ? क्या उसके कृतित्व से सीधी प्रेरणा ग्रहण करके कोई सुधार वास्तव मे हुआ — तो इस सवाल का जवाब एक निश्चित 'हाँ' मे नही दिया जा सकेगा। दरअसल जहाँ तक युगीन समस्याओ की बौद्धिक पकड का प्रश्न है, डिकेन्स के विचार उन विचारो से अलग या आगे नही थे जो कि उसके समय मे कर्मजीवन से प्रत्यक्ष रूप मे जुडे लोगो के पास भी थे। इसलिये डिकेन्स ने इसमे कोई पहल की हो, ऐसा नही कहा जा सकता। इसके अलावा जिन ठोस समस्याओ को लेकर उसने अभियान चलाया था, उनका भी हल निकालने मे उसे सफलता मिली हो ऐसा नही लगता। डिकेन्स के जीवनकाल मे (सन् 1832 और सन् 1870 के बीच) इगलैंड मे सामाजिक परिवर्तन की गति चाहे जितनी तज रही हो, सुधार की गति बहुत धीमी थी। यहाँ तक कि 'पुअर ला' जसी अपेक्षाकृत सहज साध्य चीज भी — जिस पर डिकेन्स ने लगातार आपत्ति उठायी उसे भी सशोधित करने का कोई गम्भीर प्रयत्न उसके जीवन काल मे नही हुआ। सन् 1905 मे जब रायल कमीशन की नियुक्ति हुई, तभी इसकी नौबत आयी। इसी तरह ऋण न चुका पाने के लिए कारावास के दड की प्रथा का अन्त भी बहुत बाद मे जाकर हुआ — सन् 1869 मे। सावजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधार भी दरअसल डिकेन्स की मृत्यु के उपरान्त ही लागू किया गया। दफ्तरशाही की डिकेन्सीय आलोचना भी उसके जीवनकाल मे रग लायी हो, ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि सिविल सर्विस का पुनर्गठन ही सन् 1870 मे जाकर हुआ। शिक्षा के मामले मे भी डिकेन्स आजीवन जिस एक राष्ट्रीय योजना की पुरजोर वकालत करता रहा था, वह भी उसके जीवन काल मे चरितार्थ नही हो सकी। इन सारे तथ्यो को देखते हुए यह स्पष्ट है कि डिकेन्स के उपन्यासो का अगर कोई सीधा और तात्कालिक प्रभाव सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र मे पडा भी हो तो वह नगण्य ही है। यह भी सच है कि शासन-कर्मी तथा राजनीतिज्ञ उसकी

अनवरत पुकार के प्रति न केवल उदासीन बने रहे, बल्कि उलटे उसकी रचनाओं में निहित प्रोपेगेंडा का मखौल भी उड़ाते रहे।

मगर देर अबेर ही सही — डिकेन्स की रचनाओं के व्यापक प्रचार प्रसार के फलस्वरूप अंग्रेज प्रजा के सामाजिक संवेदन में एक गुणात्मक परिवर्तन आया—इससे इनकार नहीं किया जा सकता। संवेदनगत परिवर्तन और ठोस सामाजिक कर्म के बीच एक अन्तराल स्वाभाविक है। लगभग तीस साल की रचना अवधि के दौरान डिकेन्स ने जिस अभियान को जारी रखा उसका एक परिणाम तो यही देखने में आया कि सामान्य पाठकों तक का उपन्यास विधा के प्रति दृष्टिकोण बदल गया। इसमें भी सन्देह नहीं कि डिकेन्स के उपन्यासों ने अपने पाठकों के मर्म को उस जगह पर कुरेदा जहाँ उससे पूर्व केवल धार्मिक नेताओं की पहुँच थी। उपन्यास सिर्फ मनबहलाव या अनुकरण के अतिरिक्त भी कुछ होता है, इस विचार को उसने अरसे तक जिन्दा रखा। आज भी डिकेन्स जनमानस में प्रतिष्ठित है इसका कारण यह है कि उसकी सुधार भावना के मूल में यह दृढ़ विश्वास निहित है कि सामाजिक संस्थाओं से कहीं अधिक महत्व समाज में कुछ व्यक्तियों की निजी अच्छाई है। अब यह दूसरी बात है कि डिकेन्स की यह अच्छाई स्वयं एक सापेक्ष और परिवर्तनशील वस्तु है और डिकेन्स स्वयं इस विषय में गहरी पैठ का परिचय नहीं देता। दरअसल उसकी 'अच्छाई' उस युग की परिस्थितियों का अतिक्रमण करने में सक्षम नहीं कही जा सकती। कहा जाता है — और यह सच भी है कि किसी बुराई का सबसे प्रभावशाली व्यंग्य उपन्यास तभी उभार सकता है जब पाठक उससे गुजरते हुए उस बुराई के लक्षण खुद अपने भीतर अनुभव करने लगे। ग्रेट एक्सपैक्टेशन्स में पिप की स्नाबरी का चित्रण इसका अच्छा उदाहरण है। आत्मानुभूत सत्य के कारण इस उपन्यास का सामाजिक मर्म भी ज्यादा प्रभावकारी है।

पर डिकेन्स की भावुकता और अतिरंजनधर्मी कल्पना शक्ति किस तरह उसके विवेक पर छा जाती है इसका एक नमूना उसके मार्टिन चजलविट नामक उपन्यास में देखा जा सकता है। अमेरिका यात्रा से पहले वह देश डिकेन्स के लिए एक ऐसा आदर्श प्रजातन्त्र था जहाँ यूरोप का वर्ग वैषम्य खासकर अंग्रेजों की स्नॉबरी विशेषाधिकार प्रेरित दम्भ और सामाजिक विकृतियों का नामनिशान भी नहीं था। मगर यात्रा से लौटने के बाद उसका उपन्यास छपकर बाहर आया तो उसमें अमेरीकियों की निन्दा के सिवा कुछ न था।

इससे ऐसा लगता है कि डिकेन्स की भाव प्रतिक्रियाएं, उसका भाव जीवन ही वस्तुतः स्वावलम्बी और तथ्यपरक नहीं था। जिन लोगों और संस्थाओं के

प्रति वह क्षोभ प्रकट करता है, उसके भावनात्मक अंतर्जीवन को भीतर-भीतर उन्हीं से पोषण प्राप्त होता है।

पर इसका यह अर्थ निश्चय ही नहीं है कि डिकेन्स अपनी भाव रूढ़ियों में आजीवन कैद रहा। उसके व्यक्तित्व का वह पक्ष जो प्राक औद्योगिक जीवन स्थितियों से जुड़ा हुआ था, भले ही अतिक्रान्त नहीं हुआ, उसका दूसरा पक्ष जो उसकी निरीक्षण-क्षमता और स्मृति प्रतीकों से प्रेरित था, लगातार पारदर्शी होता गया। डोम्बो एण्ड सन्स में रेल के प्रति उसका दृष्टिकोण इसका प्रमाण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि हर रचनाकार में चाहे उसमें परिवर्तन की कैसी ही तड़प क्यों न हो, एक संरक्षणशील वृत्ति भी काम करती रहती है। वह उस अर्थ में रेडिकल हो नहीं सकता जिस अर्थ में एक राजनीतिक व्यक्ति रेडिकल होता है। जिस प्रकार समाज में जो प्रगति और परिवर्तन आता है, वह समाज के भीतर के अंतर्विरोध और विभवान्तर के कारण आता है, उसी प्रकार एक रचनाकार की सृष्टि भी उसी तर्क से उसके भीतर के ही अंतर्विरोध से विकासमान होती है।

ऐसे भी प्रसंग हैं जहां डिकेन्स अपने समय से पीछे चलता है। वह उन बुराइयों पर क्षोभ प्रकट करता दीखता है जो कभी थीं जरूर, पर अब खत्म हो गयी हैं। भला कोई समाज सुधारक कभी ऐसी गलती करेगा? मगर एक उपन्यासकार के लिए उसके बचपन का संसार उसके व्यस्क दिनों के संसार की अपेक्षा कहीं अधिक जीवन्त प्रत्यक्ष हो तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है?

आखिर डिकेन्स की लोकप्रियता का रहस्य क्या है? क्या वह सौ साल बाद के पाठकों को भी सम्मोहित कर दे सकता है? सन् 1867 में कवि विलियम मारिस ने जब समाजवाद के प्रचार के लिए डिकेन्स की रचनाओं का इस्तेमाल किया, उस वक्त समाजवाद की कोई सर्वसम्मत परिभाषा तक स्थिर नहीं हो पायी थी। एक रचनाकार चाहे अपने काल से आगे देख सकता हो चाहे नहीं, अगर उसकी अपने परिवेश में जड़ें गहरी हों और कल्पना शक्ति भी दुर्दम्य हो तो उसकी रची हुई दुनिया विश्वासोत्पादक होगी ही।

इसीलिए किसी रचनाकार का राजनीतिक इस्तेमाल करने का प्रलोभन हमें चाहे जितना हो, उसकी अंतर्निहित जीवन्त जटिलता और अनेक स्तरीयता ही उसे बचाती है। उदाहरण के लिए डिकेन्स के प्रसिद्ध उपन्यास हार्ड टाइम्स में जो सामाजिक दृष्टि है और जो नैतिक संरचना है, उसे क्या किसी भी राजनीतिक 'वाद' में बाँधा जा सकता है?

एक समकालीन आलोचक ने डिकेन्स की सृजनात्मक कल्पना के बारे में बडी पते की बात कही है। उसका कहना है कि 'किसी भी सामाजिक सस्था का डिकेन्स द्वारा किया गया वणन चाहे तथ्य की दृष्टि से कितना ही त्रुटिपूण हो, उसके बिम्ब और वस्तु विवरण इतनी गहराई से उभर कर आते हैं—इतने गहरे जुडाव म से—कि पाठक पर जो छाप पडती है, वह सिफ यथाथ वणन की नही एक अतिसमृद्ध और अतिविपुल (Super abundant) यथाथ की पडती है।' यह अकारण नहीं कि लेवी स्त्राउस न भी एक जगह कला सृजन की चर्चा करते हुए वस्तु और उसकी कलात्मक अनुकृति के बीच अनिवाय अन्तराल की (डिस्क्रेपसी की) बात की है और यह मन्तव्य प्रकट किया है कि आदिम कलाकार के लिए वस्तु का रूप सवेदन सिफ वस्तु की दृश्यमान वास्त विकता तक सीमित नहीं रहता—बल्कि वह मूलत वस्तु की अक्षय अजस्र सभावना से—उसकी 'सुपर एबडेन्स से प्रेरित होता है। एलियट न भी कहीं लिखा है कि रचना शक्ति का उत्स चेतना के उस बिन्दु पर होता है जहाँ अत्यन्त आदिम और अत्यन्त सभ्य स्तर आपस मे सयुक्त होते हैं। साहित्य और राजनीति के ससार शायद इसी कारण कभी एक नही हो सकते। किसी न कहा भी है कि **राजनीतिक अल्पकालीनधम है और धम एक दूरगामी राजनीति**। ऐसा लगता है कि रचनाकार अपने स्वधम से इन दोनो की तरफ खिचता है पर दोनो से समान दूरी भी बनाए रखने को प्रेरित होता है। धार्मिक मनुष्य और राजनीतिक मनुष्य अगर कहीं सचमुच मिलते और टक राते हैं तो साहित्य मे ही।

वड् स्वथ की कविताओ मे पाठक ने प्रकृति का विस्फोट देखा था। हाड टाइम्स मे कोकटाउन के चित्रण से गुजरते हुए पाठक को—हम कल्पना कर सकते है—कि कुछ कुछ उसी तरह का सवेदनात्मक उत्तेजन मिला होगा। अन्तर केवल इतना ही कि वह प्रकृति का विस्फोट था और यह मानव सभ्यता की एक कारगुजारी का। क्या यह महत्वपूण नही कि साहित्य मनुष्य की ऐंद्रिक मानसिक सत्ता को प्रकृति के साथ किय गये हर मानवीय व्यवहार का ऐसा अनुभव करा सकता है? अगर वह विकृति है तो उसकी प्रतिकूल वदनीयता का भी। कल्पना शक्ति बडी निप्पक्ष होती ह वह अनुकूल और प्रतिकूल से, सद्गुण और अवगुण से, बडे पुण्य और बडे पाप दोनो म समान रूप स उत्ते जित हो सकती है। पक्षधरता भी उसकी होती है तो अपने ही ढग की होती है उस वचारिक पक्षधरता स समीकृत नहीं किया जा सकता।

एस अत्यन्त कल्पना प्ररित साहित्य का—उसम रचे गय यथाथ का भी—कुल मिला कर पाठक पर जो प्रभाव पडेगा वह लेखक का उद्दिष्ट प्रभाव ही होगा,

यह कहना कठिन है। वडस्वथ के रचना ससार म डिकेस से अधिक विचारोत्तेजकता है। इसलिए अगर उसका अध्ययन किसी लेजनी स्टीफेन को धम जैसी तुष्टि दे सकता है और किसी मैथ्यू आनल्ड को एक समूचा जीवन दशन, तो हमे आश्चय नही होता। मगर डिकेस ? निश्चय ही औद्योगिक क्राति के बारे मे उन्नीसवी सदी के उत्तराध मे जो चितन विकसित हुआ, उस पर डिकेस के कृतित्व का कुछ असर जरूर पडा। पर वह वचारिक उत्तेजन उतना नही था जितना कल्पनात्मक। यह भी नितात सम्भव है कि डिकेस के अध्ययन ने कुछ लोगो को एसी दिशाएँ दी हा जिह डिकेस खुद न समझ पाता या सख्त नापसद करता। खुद डिकेस किसी समस्या पर क्या दृष्टिकोण अपनाता है, यह अक्सर तय नही होता।

एक उदाहरण लें। उन्नीसवी सदी के राजनीतिक विवादा म एक प्रमुख मुद्दा यह था कि सामाजिक मामला म—नागरिक जीवन म—राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए कि नही। या किस सीमा तक करना चाहिए। इस चुनौती-भरे प्रश्न पर डिकेस का पक्ष क्या था ? एक जगह वह बडे जोर स कहता है कि 'राज्य कभी सही हा ही नही सकता। जब भी राज्य हस्तक्षेप करेगा, वह अनिष्ट ही परिणाम लायेगा।' मगर दूसरी जगह उतने ही आवेग के साथ वह राज्य की सुस्ती और अक्षमता पर प्रहार करता है कि वह इस मामले म चुप क्या है, तत्काल ठोस कदम क्या नही उठाता ? लिटिल डारिट मे एक सरकारी दफ्तर है जिसका नाम डिकेस न 'सरकमलोक्यूशन आफिस' रखा है। वहा के अफसर ऐस है कि वे गरजमदा को सरकारी नियमो से नही, अपनी वर्गीय स्नॉबरी से ही चलता कर देते है। मगर इन सारे दृश्यो की जो छाप हम पर पडती है, वह किसी स्पष्ट आलोचनात्मक दृष्टि की नही, डिकेम की सजीव कल्पना की, और हास्योद्रेक क्षमता की ही पडती है। पता नही चलता कि डिकेम उस दफ्तर से आखिर चाहता क्या है ? क्या यह, कि वे अफसर सारे नियमो को ताक पर रखके मनमाने ढग से कानून अपने हाथ मे ले के हर किसी का काम कर दे ? क्या डिकेस एक सरकारी और सावजनिक सस्था को व्यक्तिवादी बनने की सलाह दे रहा है ? तब फिर दूसरी जगह अयायी मालिका पर गुस्सा करते हुए यही डिकेस उसी सरकार का यह सलाह क्या दे रहा है कि वह फौरन हस्तक्षेप कर और इस 'प्राइवेट एण्टरप्राइज' नाम की चीज को ही जड से उखाड फेंके ? क्या इन दो प्रतिक्रियाओ म कोई तार्किक सगति नजर आती है ? डिकेस आखिर किस पद्धति के पक्ष म है ? वह कसा परिवतन चाहता है ?

•

अपने प्रारम्भिक दौर म दॉस्तॉएवस्की डिकेन्स से प्रभावित हुआ था। दोना

के बीच कई समान सूत्र और समान खण्ड भी हैं ही। पर डिकेन्स जहाँ अटक जाता है, दॉस्तॉएवस्की की असली यात्रा उसी बिन्दु से शुरू होती है। डिकेन्स की कल्पना अनुभव को विचार तक ले जाने मे अक्सर अपनी धुरी से खिसक जाती है जबकि दॉस्तॉएवस्की सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन सम्बन्धी हर प्रचलित विचार को उसकी तार्किक परिणति तक पहुंचाए बिना दम नही लेता। उसकी कल्पना शक्ति का असली काम तो मानो उसके बाद ही शुरू होता है।

इग्लण्ड की सस्कृति ई एम फार्स्टर के मुताबिक मध्यवर्गीय सस्कृति है। मध्यवर्गीय मूल्यो से प्रेरित सस्कृति के वृत्त मे साहित्य और सामाजिक परिवर्तन के बीच का सम्बन्ध देखने दिखाने के लिए डिकेन्स से अधिक उपयुक्त लेखक जिस तरह दूसरा नही मिलेगा, उसी तरह रूस की मूलत किसानी सस्कृति के वृत्त मे साहित्य और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्धो की जानकारी के लिए दॉस्तॉएवस्की से ज्यादा उपयुक्त लेखक भी दूसरा नही दिखाई देता। डिकेन्स के यहा हमने लक्ष्य किया कि अपने काल के सामाजिक यथार्थ के प्रति स्वय (परिवर्तन की दशा दिशा के प्रति भी) एक साहित्यकार का रुख इकहरा नही हुआ करता उसमे कन्सर्वेटिव और रेडिकल दोनो प्रवृत्तिया मिलती हैं। कामू ने द रिबेल मे लिखा है कि 'उपन्यासकार मानो ईश्वर की विफल सृष्टि से असतुष्ट होकर उसकी पुनरचना करता है। वह नियति को नाप तौल कर उसे अपने नियन्त्रण मे लाकर आदर्श सम्भावनाओ के क्षेत्र म लागू करता है।' मगर इस पर कोई कह सकता है कि जसे ईश्वर की सृष्टि भी प्रकृति की स्वायत्तता का अतिक्रमण करके उसे हर नुक्ते पर पूर्वनियोजित नही करती — उसी तरह उसके मानवीय प्रतिनिधि उपन्यासकार के लिए भी यह कसे सम्भव है कि वह इस वास्तव के अराजक ससार को मनमाने ढग से अनुकूलित कर ले? भले ही उसकी दुनिया वास्तविक दुनिया की अपेक्षा कही ज्यादा नियमित नियत्रित हो, उसके पात्र अपनी अलग धुरियाँ स्थापित कर ही लेंगे। ऐसा करके ही वे उसके अप्रकट और अचेतन उद्देश्यो को भी उजागर करेंगे और स्वय उसके लिए आविष्कार होगे।

सस्कृति का स्वरूप ही नही, उसकी प्राचीनता का स्तर भी सामाजिक परिवर्तन की दिशा और गति को प्रभावित करता है। रूस की सस्कृति शेष यूरोप की तुलना म एक किशोर सस्कृति ही कही जायेगी। इस किशोर सस्कृति मे जसा कि मथ्यू आनल्ड ने लिखा है — एक ताजगी है, उत्तेजनीयता है, एक अतिरिक्त-सी लगने वाली सवदनशीलता है।' वहाँ के बुद्धिजीवी का चरित्र भी जरा भिन्न ढग से विकसित हुआ है। इग्लड म बुद्धिजीवी का चरित्र आमतौर

पर सरक्षणशील, व्यावहारिक तथा सस्था प्रिय है। जहा तक हिदुस्तान की घपले मे पडी हुई, लेकिन मूलत आभिजात सस्कृति का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि उसके बुद्धिजीवी का चरित्र फिलहाल अपरिभाषित और दुविधाग्रस्त है। रूस मे पुश्किन की मृत्यु के समय तक एक ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग अस्तित्व मे आ चुका था जिसका आत्मबिम्ब हमेशा सत्ताविरोधी और आम जनता की तरफ से सोचने-करने का दावा करने वाला था। भले ही शुरू-शुरू म ये बुद्धिजीवी समाज के उच्चतर वर्गों से आते रहे हो, पर सन् 1840 तक—जब दॉस्तॉएवस्की वयस्क हुआ—इस वग पर उन लोगो का वचस्व कायम हो चुका था जो उच्चवग के नही थे—नौकरीपेशा और कारीगर वर्गों से आये थे। इन बुद्धिजीवियो मे सबसे ज्यादा प्रभाव बेलिस्की का था। नास्तिक, पश्चिमाभिमुख यूरोपियन समाजवाद के आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करने वाला बेलिस्की एक ओर व्यक्ति की स्वाधीनता का पक्षधर था और दूसरी ओर उस की मान्यता थी कि साहित्य को सामाजिक अन्याय वैषम्य के खिलाफ सघर्ष के लिए प्रतिबद्ध होना चाहिए। बेलिस्की के विरोधी खेमे म वे लोग थे जिन्ह 'स्लावोफिल' कहा जाता था और जो यह मानते थे कि रूस को अपना भविष्य स्वय अपने देसी सस्कार और देसी धम-दृष्टि के भीतर से गढना चाहिए, उन्नीसवी सदी के यूरोप के प्रगतिशील और क्रान्तिकारी विचारो के प्रभाव से नही। ये लोग भी मूलत मानवतावादी थे और रूसी प्रजा की भयावह दरिद्रता इनकी मुख्य चिन्ता थी। यह चिन्ता दॉस्ताएवस्की को जसे विरासत मे ही मिली थी। तग कोठरी मे बिताया गया बचपन उसके उपन्यासो के घुटन भरे, अतिस्नायविक मनोदशाओ को उसी तरह उत्प्रेरित करता दीखता है जिस तरह डिकेन्स की रचनाओ को लदन की गदी बस्तियाँ, भीडें, कुज, कोहरा और गन्दगी। वह युग ऐसा था जब रोमेण्टिसिज्म यथार्थवाद से पराजित हो रहा था और दॉस्तॉएवस्की के कृतित्व म यह टकराहट साफ सुनाइ देती है।

दॉस्तॉएवस्की का पहला उपन्यास पुअर फोक जब छपा तो बेलिस्की ने उसकी बडी सराहना की। उसमे बेलिस्की को सामाजिक रूप से प्रतिबद्ध यथार्थवादी रचना दृष्टि की विजय दिखाई दी थी। इस उपन्यास का नायक माकर एक एसा चरित्र है जिसकी अस्मिता उसकी आत्माभिव्यक्ति की चेष्टा से बिलकुल अलग नही की जा सकती। एक समूचे सामाजिक वग मे आत्मचेतना के उदय की असदिग्ध सूचना है यह उपन्यास। इसके बाद छपे दूसरे उपन्यास द डबल की विषय वस्तु एकदम भिन्न है। विरोधी विचारो के प्रति दॉस्तॉएवस्की के जीवन व्यापी आकषण को इसम देखा जा सकता है। विरोधी लगावो के

बीच ही उस नियति, उस सवाली सत्य की खोज की व्याकुलता इस उपन्यास को भी प्रेरित करती है जो समग्र मनुष्यों को एक बिरादरी में बाँध सके। इस उपन्यास से यह भी जाहिर होता है कि दास्तोंएवस्की की दिलचस्पी विचारों में तो है और उपन्यासी विचारों में तो खास कर, परन्तु उनके राजनीतिक अभिप्रायों में उतनी नहीं जितनी उनकी साहित्यिक सम्भावनाओं में।

हाउस आव द डेड में दास्तोएवस्की उस नरक का साक्षात्कार करता है जो व्यक्ति की निजी प्राइवेसी को एकदम खत्म कर देने से उपजता है। दरअसल अपने बन्दी जीवन के भुक्त भोग ने ही इस लेखक को मानवीय सम्बन्धों की निपट जैविक जरूरत का मर्मान्तक अहसास कराया। साथ ही दिमाग में उठने वाले तमाम तरह के विचारों को भी अपने दिमाग के मंच पर नाट्य सजीव करने का—चाहे वे परस्पर कितने ही विरोधी क्यों न हों। यह एक हकीकत है कि दास्तोएवस्की के सभी महत्वपूर्ण उपन्यास समसामयिक घटनाओं और यथार्थिक हलचलों में उसकी गहरी और निपट तात्कालिक दिलचस्पी से ही उपज हैं। परिवर्तनकारी विचारों का ऐसा ड्रामा, ऐसी संक्रामक तीव्रता किसी और उपन्यासकार में नहीं दीखती।

उसके एक उपन्यास का पात्र कहता है (और यह स्वयं लेखक की दृष्टि प्रतीत होती है) कि आदमी बड़े उत्साह पूर्वक किन्हीं भावों और विचारों को समर्पित हो सकता है। मगर इसके बावजूद यह नितान्त सम्भव है कि इस उलझाव और समर्पण के बावजूद वह अपनी आत्मा में एक अविचल बिन्दु बनाये रख सके जहाँ से वह अपने आपको—अपने तमाम विचारों अनुभूतियों और हरकतों को निहायत अनासक्त और साक्षी भाव से देखता रह सके।'

नोट्स फ्रॉम द अण्डर ग्राउण्ड का भी रचनात्मक अभिप्राय क्या है ? यही न कि 'मनुष्य जाति कभी भी स्वेच्छा से वह लक्ष्य नहीं चुनती जो तर्क बुद्धि से उसके लिये फायदेमन्द दिखाई देता है। वह हमेशा उस उदात्त पीड़ा को चुनती है जो उसके व्यक्तिगत वरण स्वातन्त्र्य से जुड़ी हुई है। मनुष्य अपने स्वभाव से ही सामाजिक यूटोपिया द्वारा प्रदर्शित सस्ती सुख सुविधा को अस्वीकार करता है।'

दास्तॉएवस्की की अन्तरात्मिक चिन्ता अपने देश की नियति को लेकर थी वह देश जो पश्चिम यूरोपीय विचारधाराओं से आक्रान्त हो रहा था—नास्तिक समाजवाद जिसके बुद्धि जीवियों को प्रेरणा दे रहा था। वह यह देश था जिसमें उसकी आस्था के सामने आर्थोडॉक्स चर्च के परम्परागत ईसाई जीवन मूल्यों का लगातार क्षरण हो रहा था और मनुष्य को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानने

की प्रवृत्ति जड पकड रही थी। मानो अपने लोगो की इस दुखद भावी के प्रतिकार स्वरूप ही उसने मिश्किन को गढा—एक साधु चरित्र को। मिश्किन म जो आशा है, जो दीप्ति है, वह मानो स्वय अपनी अनास्थामूलक प्रवृत्तिया से जूझते हुए दास्तॉएवस्की की छटपटाहट है। आस्था के लिए छटपटाहट। इसके बावजूद दॉस्ताएवस्की अपने देश के भविष्य को लेकर गहरे म शकाशील ही बना रहा न केवल शकित, बल्कि हताश भी।

अपने समकालीन क्रातिकारियो के प्रति—जो समाज व्यवस्था को आमूलचूल बदल डालना चाहते थे—दॉस्ताएवस्की का क्या रख था? यहा भी हम एक तरह की भावात्मक द्विविधा देख सकते है जिसे हमने डिकेन्स मे लक्ष्य किया था। अच्छे साध्य के लिए हर साधन को जायज मानने वाली विचार दृष्टिया उसकी धार्मिक सवेदना का सख्त नापसन्द थी। पर उसकी कल्पना इन खतरनाक विचारा और व्यक्तित्वो के आकपण से अभिभूत भी हो जाती है। एक तरफ ये बुद्धिजीवी उसी उसी तरह उसके व्यग्य विद्रूप और भत्सना का आखेट बनते ह जसे कि का दीद का पादरी पैंगलोस वाल्तेयर के लिए। दूसरी ओर भीतर ही भीतर उसके मन म इन आतकवादियो के प्रति एक अजीब से आकपण और अद्धचेतन सराहना की वृत्ति भी काम करती रहती है। किसी निषिद्ध फल के आकपण की तरह। यह द्वैत, यह अन्तविभाजन उसकी महत्व पूण कृतियो मे बराबर दिखाई देता है—एक द डेविल्स का छोडकर। ब्रदस करमाजोव मे ईवान का जो चरित्र है उसम स्वय दास्तॉएवस्की के गहरे अन्तद्व द का अन्त प्रमाण बोलता है। तीना भाइया के बीच जसे उसने अपने आपको बाट लिया हो। हत्या भले ही स्मड्याकोव ने की हो, पर ईवान मानसिक स्तर पर उसके अपराध का भागीदार है। इस भागीदारी स वह पिंड नही छुडा सकता। द पजेस्ड म जो आशावादी और सकारात्मक पक्ष है वह स्वानुभूत होत हुए भी सजनात्मक दृष्टि स बहुत आश्वस्त नहीं करता। इसके विपरीत उसका जो नराश्यमूलक, प्रोफेटिक स्वर है, वही हमारे और उसके भी सिर चढ के बोलता है।

यह भवितव्यदर्शी अन्तदृष्टि क्या है? यही, कि उसके युग की क्रान्तिकारी महत्वाकाक्षाएँ जो बिना किसी धार्मिक सवेदना या नतिक मानदण्डा के—कम की नतिकता के सवाल का ही परे हटा कर—मानव मुक्ति के सपने देखती हुई राजनीतिक स्वाधीनता के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती है, उनकी परिणति—यह तय है कि बहुमत पर अल्पसख्यका के निरकुश अत्याचार म ही होगी। बीसवी सदी की तानाशाही व्यवस्थाओ ने दॉस्ताएवस्की की इस अन्तदृष्टि को सही साबित कर दिया है। अजीब लगता है कि जिस ने अपना साहित्यिक

जीवन गोगोल से झगड़ते हुए शुरू किया था, उसने अंततः गोगोल से ही संधि कर ली। ब्रदर्स करमाज़ोव में उसने प्रासीक्यूटर से जूरी के सामने जो वक्तव्य दिलवाया है वह डेड सोल्स में व्यक्त विचारों से बहुत भिन्न नहीं है।

दास्ताएवस्की डिकेंस से प्रभावित जरूर था। पर सामाजिक समस्याओं के प्रति उसका लगाव विश्लेपणात्मक है। सुधारक नहीं है वह, उस के बरोक्स ज्यादा दूरद्रष्टा और मूलगामी है। उसके रचनात्मक चिन्तन की आधार रेखा मानवीय पतन की पराकाष्ठाओं से बनती है और ईसा मसीह के रूप में मनुष्य की आध्यात्मिक सुन्दरता उस त्रिभुज का शीर्ष है। द ब्रदर्स करमाज़ोव में उसने दिमित्री के मुख से जहां एक ओर यह व्याकुल प्रश्न पुछवाया है कि अगर सब का उद्धार नहीं हो सकता तो एक अकेले की मुक्ति का क्या अर्थ है ? वहीं दूसरी जगह यही दिमित्री हमें यह भी बतलाता है कि 'सौंदर्य मानव भावनाओं का एक समूचा वर्णपट है जिस का एक छोर नैतिक पवित्रता से और दूसरा छोर उसी मनुष्य की चरम विकृति और पापाचरण से बना है।'

●

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। किन्तु वह अपने सामाजिक राजनीतिक होने के अर्थ को भी अपनी वैयक्तिकता के चेतन बिन्दु पर ही अनुभव करता और समझता है। क्या ही विरोधाभास है कि उपन्यास विधा का जन्म जिस सामाजिक परिवर्तन की दहलीज पर—औद्योगिक क्रांति के आसपास हुआ, उसी ने अपने विकास के अगले सोपानों पर इस विधा को अपने कायाकल्प के लिए भी मजबूर किया। जिस उपन्यास ने मानव-व्यक्तित्व और मानव-सम्बन्धों के बारे में हमारे ज्ञान को गहरा और विस्तृत किया था, उसी ने कालान्तर में अपना ध्यान चरित्र चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और सामाजिक अध्ययन से हटा कर स्मृतिलोक और मिथकीय आयामों के अनुसंधान पर लगाना शुरू कर दिया। सबसे इतिहास धर्मी विधा सबसे अनैतिहासिक प्रणालियां अपनाने लगी और किसी महज रूपतान्त्रिक नवीनता की खातिर नहीं, बल्कि स्वयं यथार्थान्वेषण के दबाव से ही। क्या यह अकारण संयोग है कि जब उपन्यास अत्यन्त सामाजिक था, तब उसमें अत्यन्त सुपरिभाषित व्यक्ति चरित्र होते थे और जब उपन्यास प्रस्त, जाइस काफ्का मूसील गुन्ज आदि के ज़रिए उस सामाजिक की धुरी से खिसक कर एक वैयक्तिक विजन को सम्प्रेषित करने लगा, तब उसका चरित्र और सम्पूर्ण संरचना भी अधिक रूपकात्मक स्वप्नचरित्री, समष्टिमूलक और मिथिकल होने लगे। एक दूसरी नजर से देखें तो कहा जा सकता है कि उपन्यास बिना

अपनी औपन्यासिकता को—अपनी समष्टिगत प्रेरणा को—छोड़े बगैर, बल्कि और भी सान्द्र-एकाग्र ढंग से समष्टिमूलक बनते हुए अपने प्रभाव में काव्य के निकट आता गया ऐसा क्यों ?

इस लेख के आरम्भ में वर्ड्सवर्थ का उल्लेख हुआ है। आधुनिक अंग्रेजी कवि स्टीफेन स्पेंडर ने अपनी आत्म कथा वर्ल्ड विदिन वर्ल्ड में तीसी के दशक के अपने अनुभवों को स्मरण करते हुए लिखा है कि उस वक्त कई लेखकों ने 'इंटरनेशनल ब्रिगेड' में शामिल होकर मृत्यु का वरण किया मगर जो लोग पीछे बचे रह, उन लोगों ने भी अपनी लेखकीय प्रतिभा को एक ऐसे राजनीतिक उद्देश्य का अनुगामी बना दिया जो घोर तात्कालिक था। जब कि असली जरूरत उस वक्त वैयक्तिक राग सत्य की—इंडिविजुअल पैशन की—थी जो उस विकराल कालखंड का एक जिन्दा साक्ष्य रचती—उस समय को अपनी निजी, प्रामाणिक अनुभूति के भीतर से अवतार देती। स्पेंडर के शब्दों में 'एक विभाजित पीढ़ी के ये लेखक पहले तो अपनी अवस्थिति के प्रति जागरूक हुए और तत्पश्चात् अपनी उस दुर्लभ मूल्यवान् जागरूकता को उन्होंने महज राजनीतिक उपायों की तलाश की समस्या में अवमूल्यित करके रख दिया। जब कि उस वक्त जरूरत थी एक दॉस्तॉएवस्की की—जो उस समय के आध्यात्मिक रक्त कीच में सना जाकर अपनी आवाज पाता, या फिर किसी वॉल्तेयर की, जो क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रखता हुआ भी दोनों पक्षों को समान दूरी से और एक सी निस्संग निर्ममता से फटकार सकता।

स्पेंडर स्वीकार करता है कि एक लेखक के लिए इस भरोसे में रहना, कि उसकी वैयक्तिक स्वाधीनता को पुष्टि मिल सकती है अगर वह प्रगतिशील ताकतों के साथ अपने को जोड़े, यह तो स्वाभाविक है। पर, उसके अनुसार—'यह विश्वास उस विश्वास से बुनियादी तौर पर भिन्न है जिसके तहत एक नागर यह सोचने लगता है कि उस का जीवन अब एक यन्त्र भर है जिसे राजनीतिकर्मी एक साधन की तरह इस्तेमाल कर सकता है। निश्चय ही एक बेहतर दुनिया के लिए संघर्ष आवश्यक है। पर उस संघर्ष के भीतर एक और दूसरा अधिक दूरगामी संघर्ष भी अनिवार्य है। और यह दूसरा संघर्ष उस दूरगामी मूल्यों की चिन्ता करने वाले व्यक्ति के तथा उन दूसरों के बीच होता है जो तात्कालिक राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए हर सम्भव साधन का इस्तेमाल करने से नहीं हिचकते। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे लक्ष्य अपने आप में अच्छे हैं। सामाजिक मनुष्य की अवधारणा मानव व्यक्ति को ही न निगल जाय, इसकी चिन्ता भी जरूरी है।'

•

ज्यादातर क्रान्तिकारी सुधारकों का रुख कथा और सृजनात्मक साहित्य के

प्रति द्रोहपूर्ण रहा है। कला स्वयं अपने ऊपर लगाये जाते रहे ऐतिहासिक अभियोग के प्रति उदासीन नहीं रह सकी है। आधुनिक युग में तो स्वयं कलाकारों में अपनी कला को लेकर गहरा 'बैड काँशेंस' अक्सर नजर आती है। नतत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण का उल्लेख ऊपर हुआ है स्वयं लेवी स्त्राउस का दृष्टिकोण आधुनिक कला के प्रति अत्यंत आलोचनात्मक है। उसके अनुसार असली समस्या है समाज में कला को उसकी जायज जगह दिलाने की—उस पूरे समुदाय के उपयोग की वस्तु बनाने की—जैसा कि आदिम समाज में होता था। क्योंकि कलाकार खुद मन ही मन अपनी कला की सामूहिक निष्प्रभाव्यता को समझता है और अपने समाज के उपजाऊ कार्यकलापों से, उसके जिये जा रहे जीवन से अपने को बहिष्कृत-सा पाता है, अतः वह दुनिया भर की कला शैलियों पर हाथ आजमाता फिरता है। अपनी बद हवासी में। लेवी स्त्राउस के मुताबिक यह कला असंप्रेष्य और दंभमय है। अमूर्त कला ही क्यों, कविता और उपन्यास कला तक के बारे में वह यही आरोप लगाता है।

लेवी स्त्राउस ने समूची आधुनिक कला के इतिहास में यह असंगति देखी है, सामाजिक परिवर्तन के साथ कला के निरंतर निष्प्रभावी होते जाने की विडम्बना। चित्रकला के संदर्भ में उसका विचार है कि इम्प्रेशनिज्म एक प्रतिक्रियावादी क्रांति थी। पाश्चात्य कला का वही 'पर्जेसिव रिप्रेजेंटेटिव' रुख यहां भी अक्षत बचा रहता है। क्यूबिज्म को वह इतना श्रेय जरूर देता है कि उसने कम से कम कलाकृति के अर्थ सत्य (समेण्टिक ट्रुथ) को फिर से खोजा तो सही। पर जो तीसरी सबसे बड़ी चुनौती थी—उसका हल ढूंढने में वह भी असफल रही। लेवी स्त्राउस के ही शब्दों में—'कलात्मक उत्पादन की शर्तें व्यक्तिमूलक ही रही आईं। इम्प्रेशनिज्म ने एकेडेमिसिज्म को तोड़ा, क्यूबिज्म ने रिप्रेजेंटशनलिज्म को। पर कला को सार्थक बनाने के रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा व्यक्तिवाद तो जहाँ का तहाँ रहा।'

लेवी स्त्राउस ने यहाँ पर एक बड़ी विचारोत्तेजक बात कही है और वह यह कि शास्त्रीयतावाद और अनुकरणवाद से लड़ना आसान है क्योंकि वे उस व्यवस्था का अंग हैं जिसे मार्क्सीय शब्दावली में 'सुपरस्ट्रक्चर' कहा जाता है। पर जहाँ तक कलाकृति की सामुदायिक सार्थकता का—सामुदायिक संकेत गर्भिता और सम्प्रेष्यता का पक्ष है वह तो 'इंफ्रास्ट्रक्चर' से ही सम्बंधित है। इस स्तर पर कला समाज के वानिक यथार्थ से बँधी हुई है और उसे बदलने में—उसके साथ साथ चलते हुए उसका रचनात्मक नियमन कर सकने में असमर्थ है। यही असली गतिरोध है। एक बात वह और कहता है इसी

सिलसिले मे, कि सभी कलाओ म—साहित्य मे भी लोग बडे प्रयत्नपूर्वक नये नये रूपो शलिया की खोज करने मे जुटे हुए है । पर वास्तविक परिवतन, वास्तविक सृजानात्मक सिद्धि तो अद्धचेतन स्तरा पर रूप सजना द्वारा ही सम्भव होती है ।

लेवी स्त्राउस की इन बाता की प्रासगिकता को लक्ष्य करते हुए भी यह स्वीकार करना कठिन है कि जिसे वह 'अवचेतन का सहयोग' कह रहा है, वह द कैसिल, यूलिसीज या फिनिगन्स वेक जसे उपन्यासो मे अथवा यीटस की सेकण्ड कमिंग जसी कविताओ म सक्रिय नही हुआ है । कलात्मक सृजन की व्याख्या करते हुए वह जहा एक ओर वस्तु और उसके कलात्मक प्रतिरूप के बीच एक तकनीकी असमानता (टक्निकल डिस्पैरिटी) की बात करता है और विज्ञान के जरिए उस कला सम्भव डिस्पैरिटी के लगातार क्षीण पडते जाने की शिकायत भी करता है, वही वह आदिम समाज की स्थिति म स्वय वस्तु मे निहित भूमा (सुपर एवडेन्स) का विचार भी सामने रखता है और कहता है कि यह 'सुपर एवडेन्स आफ द आब्जेक्ट' उस सृजनात्मक अतराल का पुन सृजन कर देती है और इसका कारण यही है कि आदिम समाज के लोग सिर्फ एक प्राकृतिक ससार मे नही रहते वे एक अतिप्राकृत (अलौकिक) ससार मे भी रहते है ।

यह सच है कि आदिम सस्कृति का यह जो सुपर नेचुरल सवदा सुलभ था, वह आधुनिक सभ्यता के सदस्य को नही हो सकता । पर दूसरी ओर यह भी है कि जिस वज्ञानिक प्रगति न वस्तु की उस सुपर एवडेन्स' और रहस्यात्मकता को छीना और उस कला सम्भव अतराल को भी अधिकाधिक पाट दिया, उसी विज्ञान का स्वय बीसवी सदी तक आते-आते कायाकल्प होता गया है । दूसरी तरफ साहित्य न भी वस्तु की इस सुपर एबडेन्स' को न सही वस्तु और उसके कला रूपान्तर के बीच अतराल का फिर म खोजने के अत्यन्त मौलिक एडवेंचर तो किय ही हैं । क्या यह सच नही है कि जम्स जाइस की प्रौढ कला मे सामाजिक और सामुदायिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध साकेतिकता है और यह सकेतगर्भी कला मात्र रूपतात्विक उपलब्धि या असली समस्या से पलायन की चेष्टा हरगिज नही है । वल्कि कला की समष्टिगत साथकता को उसे फिर से लौटाने की साधना है और वह साधना भी कला की अपनी शर्तों पर ही । मुझे कम से कम ऐसा लगता है कि यूलिसीज इस दृष्टि से वेस्ट लड स अधिक महत्वपूण रचना है । इसी तरह मुझे यह भी लगता है कि रॉबट लॉवेल की काव्य कला की अपेक्षा सास बेलो की उपन्यास रचना सामाजिक परिवतन के अतरात्मिक परिणामो का न केवल ज्यादा गहरे सप्रेषित करती है बल्कि इस

परिवर्तन के समतोल और समकक्ष कला रूप को भी अन्वेषित करती है। इस तरह अमूर्त कला पर लगाया गया लेवी स्त्राउस का यह आरोप, कि वह कलाकृति की सामुदायिक उपयोगिता और अर्थ का पुन सृजन नही करती, कम से कम चोटी के आधुनिक उपन्यासकारो पर लागू नही होता।

यह अकारण नही कि आनन्द कुमारस्वामी का दृष्टिकोण भी नृतत्वशास्त्रियो की तरह ही आधुनिक कला के प्रति नकारात्मक ही है। उनका कहना है कि आज की परिस्थितियो मे कला एक विलास बन गयी है जब कि यही कला किसी समय ज्ञान का साधन थी—एसे 'ज्ञान' का, जिसके द्वारा मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक जरूरतो की पूर्ति होती थी।

यह बात गौरतलब है कि कुमारस्वामी का यह असन्तोष सुधारको वाले असन्तोष से एक दम भिन्न है। उनके अनुसार 'वर्ग चिन्तक और समाज सुधारक संस्कृति के विषय म फली भ्रान्ति से स्वय कदापि मुक्त नही हैं। उनका आक्रोश केवल उस आर्थिक परिस्थिति को लेकर प्रकट होता है जो उन्हे जिन्दगी की उन नियामतो से वचित रखता है जो अमीरो को सहज सुलभ है। श्रमजीवी भी कला सग्राहको और कला प्रेमियो के खोखलेपन को आर पार देखने की बजाय उनके प्रति ईर्ष्या भाव से परिचालित होने लगता है। सच्ची बात तो यह है कि समाज सुधारक और क्रान्तिवादियो का दृष्टिकोण भी बूर्ज्वा दृष्टिकोण की तरह ही भावुक और आदर्शवादी हुआ करता है, यथार्थपरक या सत्याग्रही नही। जब कि जीवन की जिस धर्मदृष्टि की वे भर्त्सना करते नही थकते, वही वस्तुत सच्चे अर्थों मे व्यावहारिक और उपयोगितामूलक दृष्टि है।

कुमारस्वामी के मतानुसार आर्थिक लाभ की दृष्टि से सगठित औद्योगिक समाज की सबसे बडी विडम्बना यही है कि वह प्रत्येक मनुष्य को उस न्याय से वचित करता है जो उसकी वास्तविक मनुष्यता की असली जरूरत है। ऐसा हर समाज अनिवार्यत शेष मानव समुदायो के प्रति शैतान का-सा सुलूक करता है। लेवी स्त्राउस की ही तरह कुमारस्वामी भी व्यक्तिवाद के विरोधी हैं। वह कहते हैं 'वर्ग वैषम्य को मिटाना चाहने वाले व्यक्ति को जिस अधिकार की माँग सबसे पहले करनी चाहिए वह है—जो कुछ भी वह बना सकता है उसके निर्माण की पूरी मानवीय जिम्मेदारी।' और कुमारस्वामी मानते हैं कि ऐसी माँग सिर्फ शोषित की भूमिका पर खडे हो के नही की जा सकती। इस माग का मतलब है कलाकार द्वारा समाज मे अपनी वास्तविक भूमिका निबाहने के अवसर की माँग। 'शोषित को यह समझ लेना होगा कि उत्पादन के साधनो के स्वामित्व का प्रश्न मुख्यत आध्यात्मिक श्रेय स जुडा हुआ है

और गौणत ही आर्थिक न्याय से। अगर उसका लक्ष्य मात्र रोटी द्वारा जीने का है तो फिर वह उस बूर्ज्वा पूजीपति से किस मानी मे बेहतर है, जिससे वह नफरत करता है ?'

कुमारस्वामी का कला चिन्तन मध्यकालीन ईसाई तत्त्वचिन्तन तथा पूर्वीय चिन्तन का पास पास रख कर उनमे सगति बिठाता है। कामू ईसाई और मार्क्सीय चिन्तन को लगभग पास पास रख के प्राचीन यूनानी विश्व दृष्टि को उन दोनो के विरोध मे खडा करता है। उसके अनुसार यह चिन्तन की ईसाई पद्धति ही है जो इस निष्कर्ष पर पहुचाती है कि मनुष्य का इतिहास ही सर्वोपरि है। इतिहास की अवधारणा, पाप और दड की अवधारणा ईसाईयत की ही तरह मार्क्सवाद को भी अनुप्राणित करती है। कामू यह भी मानता है कि 'ईसाई दृष्टि ने मानवता और प्रकृति के बीच के नाजुक सन्तुलन को इतिहास नाम की चीज के हित म छिन्न भिन्न किया।' यह भी, कि जिस क्षण ईसा की दिव्यता का अस्वीकार करत हुए जर्मन आइडियोलॉजी ने उसकी प्रतिष्ठा मानव देवता के रूप मे की उसी क्षण मध्यस्थता की अवधारणा विलुप्त हो गई और इतिहास पूजक यहूदी विश्व फिर से हावी हो गया। फिर तो सौन्दयतत्त्व से ही विदकने वालो को नैतिक आवेश की आड आसानी स सुलभ हो गयी। कामू इसीलिये व्यग्यपूवक मार्क्स को इस नये इतिहास देवता का 'जरमिया' कहता है और सेण्ट आगुस्टीन का इस क्रान्तिवाद का अग्रदूत।

अर्थात् कामू ईसाई चिन्तन मे वह एकता की ('सौलिडरिटी' की) भावना नही पाता जो स्वय उसके कृतित्व और सोच विचार का मूलाधार है और जिसका उल्लेख हमने इस लेख के आरम्भ मे किया है। उसके अनुसार यूनानी चिन्तन मध्यस्थता के विचार को अपनाता है और तथाकथित सम्पूर्णता (टाटलिटी) की उस ऐतिहासिक अवधारणा मे अनजान बना रहता है जिसे ईसाइयत ने सिर पर चढाया और जो आज अपने धर्मस्रोत से उच्छिन्न हो कर समूचे यूरोप के जीवन और सस्कृति को नष्ट भ्रष्ट कर देने पर उतारू है।

लेवी स्त्राउस ने भी बलपूवक इस तथ्य को रेखांकित किया है कि 'व्यष्टि और समष्टि (इंडिविजुअल और कलेक्टिव) का पार्थक्य केवल पश्चिमी समाजो के सदर्भ म ही प्रासगिक है। एक ओर मानव व्यक्ति तथा समुदाय तथा दूसरी ओर चेतन तथा अवचेतन के सहज सहयोग से किस तरह एक आदिम सस्कृति मे कला का समष्टिमूलक सृजन और व्यवहार होता है, इसके

उदाहरण स्वरूप उसने बस्तर के आदिवासियों के बीच प्रचलित एक प्रथा का उल्लेख किया है जिसमें समाज के किसी सदस्य को कोई शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट होने पर एक विशिष्ट सदस्य को—जो ओझा और कलाकार एक साथ होता है—बुलावा भेजा जाता है। यह ओझा अतिथि बन कर एक रात रोगी के घर पर ठहरता है। वहाँ उस रात वह जो स्वप्न देखता है उसके आधार पर वह रोगी की दीवाल पर चित्रांकन करता है।

इसका अभिप्राय यही हुआ कि कला का सम्बन्ध उस 'ज्ञान' से, उस मुक्ति विद्या और सहयोग विद्या से है जो मनुष्य की वैयक्तिकता और सामाजिकता के बीच प्राकृतिकता और सांस्कृतिकता के बीच सामंजस्य उत्पन्न करती है। कामू के पूर्वोल्लिखित 'ऐक्य' (Solidarity) के विचार से भी इस बात का सम्बन्ध देखा जा सकता है। नृतत्वशास्त्र की उस मान्यता का भी यहाँ पर फिर से याद करना जरूरी होगा जिसके अनुसार सभ्यता के इतिहास में लेखन कला का आविष्कार सत्ता हथियाने भौतिक साधनों पर कब्जा जमाने और मानव समूहों पर शासन करने का हथियार बना। लेवी स्त्राउस जैसे वैज्ञानिक इस घटना को कला के इतिहास में एक दूरगामी अनिष्ट परिणामों वाली घटना मानते हैं और बताते हैं कि लेखन के आविष्कार ने ही कला को भी आकृति मूलकता की ओर उन्मुख किया क्योंकि लेखन के हथियार ने ही आदमी को यह सिखाया कि भाषिक संकेत सिर्फ बाहरी विश्व को सूचित करने के लिये ही प्रयोग में नहीं लाये जा सकते, बल्कि उस विश्व को स्वायत्त करने उस पर कब्जा जमाने के लिए भी बड़े कारगर सिद्ध होते हैं। स्पष्ट ही लेवी स्त्राउस की दृष्टि में यह कला के मूल अर्थ में — यौगिक मूल्यवत्ता में—भ्रंश की शुरुआत थी। यह गौर करने की बात है कि लेवी स्त्राउस इस पतन के लिए विशेष तौर पर पश्चिमी सभ्यता को ही जिम्मेदार ठहराता है। कुमारस्वामी का मत हम पहले ही यहाँ उद्धृत कर चुके हैं। कामू के विद्रोही चिन्तन में निहित दार्शनिक दृष्टि की चर्चा करते हुए उसकी आलोचना का उल्लेख भी इस लेख में हुआ है। उसमें अब बस इतना ही और जोड़ना होगा कि लेवी स्त्राउस के मतानुसार 'मानिका या कला दर्शकों के हित में वस्तु का हथियाना व उस पर कब्जा जमाने की यह तृष्णा और महत्वाकांक्षा ही पश्चिमी सभ्यता द्वारा उपजायी गयी कला की सबसे विशिष्ट और मौलिक पहचान है।

•

हमारे अपने परिवेश में—जबकि हमारा समाज उथल-पुथल के एक व्यापक दौर से गुजर रहा है साहित्य और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध की वास्त-

विक्ताओ का विचार आवश्यक है, मात्र इच्छित चिंतन से प्रेरित तक जाल या वाग्विलास नहीं। इसके लिए उपरोक्त सन्दर्भो को ध्यान में रखना उपयुक्त होगा। न केवल मात्रा ज्ञान की दृष्टि से, अपितु दिशा ज्ञान के लिए भी। अन्तत दिशा ज्ञान ही और सारे क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी महत्व रखता है। किसी भी समाज के सदस्यों को एक दूसरे से जोड़े रखने वाली चीज आखिर वह ऊर्जा ही तो है जो उन्हें समान आदर्शों और लक्ष्यों की दिशा में गतिशील रखती है। क्या ऐसे समान आदर्श और लक्ष्य भारतीय समाज के सामने है और क्या वे उसे गतिशील बनाते हैं? क्या वे समान आदर्श और लक्ष्य वास्तव में ऐसे हैं, कि कहा जा सके उनमे पूरे समाज की सगुण सत्ता का स्पन्दन है—उसकी वास्तविक अस्मिता का साक्षा है? क्या उस ऊर्जा को हमारे साहित्य की साक्षी से पहचाना या परिभाषित किया जा सकता है? यह भी कि क्या आज साहित्य वास्तव मे इस स्थिति में है कि वह जन-मानस को वांछित परिवर्तन की दिशा में प्रेरित प्रभावित कर सके या कि उसे वैसी (मसलन दास्तॉएवस्की या डिकेन्स जैसी) अन्तरात्मिक चेतावनी और शिक्षा ज्ञान सुलभ कर सके? एक प्रश्न यह भी कि हमारे यहाँ बुद्धिजीवी वर्ग की क्या कोई वास्तविक भूमिका—रूस या फ्रांस या कम से कम इंग्लैण्ड तुलनीय रही है? अगर हाँ, तो इस वर्ग का सृजनात्मक साहित्य से क्या कोई जागृत सम्बन्ध है? अगर नहीं, तो लेखक और समाज के बीच यहाँ किस तरह का सम्बन्ध (क्रिया प्रतिक्रियाओं और अपेक्षाओं का) रहा है? किसी अन्य वैचारिक भावनात्मक उथल पुथल के काल में मसलन भक्तिकाल में—साहित्य और समाज का कैसा क्या सम्बन्ध रहा? आज की स्थिति में उसकी तुलना करने पर क्या कोई मार्गदर्शक सूत्र खोजे जा सकते हैं? अन्य क्षेत्रों के संस्कृति कर्मियों के बीच हमारे साहित्यकार की क्या स्थिति है? हमारी परम्परागत संस्कृति में साहित्य की क्या स्थिति रही और आज के सांस्कृतिक परिवेश मे वह कैसी है? परिवर्तन के दो प्रमुख घटक—विज्ञान तथा राजनीति के प्रति भारतीय जनता का तथा भारतीय साहित्यकारों का किस तरह का दृष्टिकोण रहा है? दार्शनिक चिंतन के स्तर पर देश और समाज के सम्मुख जो चुनौतियाँ रही हैं—उनका क्या सचमुच उत्तर दिया जा सका है? अगर हाँ तो ऐसे चिंतन का साहित्यकारों की रचना पर कमो बेश क्या प्रभाव पड़ा या नहीं पड़ा? स्वयं ऐसे चिंतकों के साथ, जो राजनीति के क्षेत्र में प्रभावशाली रहे हैं— लेखकों के किस तरह के सम्बन्ध रहे हैं? दूसरे शब्दों में—लेखकों के बीच किस तरह का राजनीतिक चिंतन अधिक प्रभाव डालने वाला रहा है और क्यों? इन राजनीतिकर्मी चिंतकों का देश की

सास्कृतिक परम्परा से किस तरह का सम्बन्ध रहा है ? विशेषकर आज के समय मे हमारी राजनीति, सास्कृतिक परिस्थिति और रचे जा रहे साहित्य के बीच क्या और कम सम्बन्ध है ? क्योंकि प्रस्तुत विषय के विवेचन के लिए यहा उपन्यासकारो की विशेष रूप से चर्चा हुई है यह प्रश्न भी अन्तत विचारणीय होगा ही कि हमारे पाठक समाज म किस तरह के उपन्यास पढे और सराहे जाते है ? और यह भी, कि उपन्यास से हमारे समाज की अपेक्षाओ का धरातल क्या है ?

वत्सल निधि लेखक शिविर वृन्दावन १९८२ म पढा गया लेख ।

आस्था, सशय और सृजन

औसत इन्सान को एकीकृत और समग्र रखने के लिए आस्था की आवश्यकता होती है। आस्था वह तत्व है जो व्यक्ति के विभिन्न अगो और वृत्तियो को एक प्रयोजन मे जुटा देता है। लेकिन गतानुगतिक विश्वास म आस्था है, यह कहना मुश्किल है। आस्था की कसौटी प्रश्न है उसकी खुराक भी यह प्रश्न ही है। जब मन म प्रश्न नही उठता तो यह आस्था नही, जडता है। आस्था ही है जो बुद्धि और तक का पूरा लाभ उठाकर भी उन्हे गति मे बाधक नहा बनने देती, उलटे साधक कर लेती है।

जनेन्द्र कुमार [साहित्य और सस्कृति]

लागा की मूखता हर चीज का जवाब पा लने मे स प्रकट हाती है। उपन्यास की बुद्धिमत्ता हर चीज के आगे एक प्रश्न उठाने म निहित है। उपन्यास हम ससार को एक प्रश्न के रूप मे स्वायत्त करना सिखाता है। इस दृष्टि म बुद्धिमत्ता है और सहिष्णुता। इसके विपरीत सवसत्तावादिया की दुनिया—चाहे वह मार्क्स, इस्लाम अथवा किसी भी अन्य बुनियाद पर क्यो न खडी हो—प्रश्ना के बदले बने बनाए उत्तरो की दुनिया होती है। वहाँ उपन्यास के लिए कोई जगह नही।

मिलान कुन्देरा [फिलिप रोथ से बातचीत]

•

हिन्दी के एक वरिष्ठ साहित्यकार न कुछ वप पूव एक समस्या सामने रखी थी वतमान हिन्दी लेखन मे जो अनास्था, जो टूटन दीख पडती है, उसके बीज कहा ह ? पश्चिम के साहित्य मे अनास्था का भी एक लम्बा सिलसिला देखा जा सकता है किन्तु भारतीय साहित्य की परम्परा मे तो कही उस तरह की अनास्था नही है, फिर एकाएक अनास्था कस प्रगट हो गई ? दो ही बातें हा सकती हैं। या तो यह अनास्था सकण्ड हैण्ड है अनुकारी है, या फिर मानना होगा कि जिसे हम आस्था का साहित्य, आस्था की परम्परा कहते हैं, वह वसा नही है उसी मे अनास्था के बीज थे।

इस तरह उठाया जाकर यह प्रश्न थोडा अटपटा भले लगे, अनगल वह नहा कहा जा सकता। या देखे तो मनुष्य को व्याप सकने वाले सशय की कोर सी

सांस्कृतिक परम्परा से किस तरह का सम्बन्ध रहा है? विशेषकर आज के समय में हमारी राजनीति, सांस्कृतिक परिस्थिति और रचे जा रहे साहित्य के बीच क्या और कैसा सम्बन्ध है? क्योंकि प्रस्तुत विषय के विवेचन के लिए यहाँ उपन्यासकारों की विशेष रूप से चर्चा हुई है, यह प्रश्न भी अंततः विचारणीय होगा ही कि हमारे पाठक समाज में किस तरह के उपन्यास पढ़े और सराहे जाते हैं? और यह भी, कि उपन्यास से हमारे समाज की अपेक्षाओं का धरातल क्या है?

वत्सल निधि लेखक शिविर वृन्दावन १९८२ में पढ़ा गया लेख।

आस्था, सशय और सृजन

औसत इ सान को एकीकृत और समग्र रखन के लिए आस्था की आवश्यकता होती है। आस्था वह तत्व है जो व्यक्ति के विभि न अगो और वृत्तियो को एक प्रयोजन मे जुटा देता है। लेकिन गतानुगतिक विश्वास म आस्था है, यह कहना मुश्किल है। आस्था की कसौटी प्रश्न है, उसकी खुराक भी यह प्रश्न ही है। जब मन मे प्रश्न नही उठता तो यह आस्था नही, जडता है। आस्था ही है जो बुद्धि और तक का पूरा लाभ उठाकर भी उ ह गति म बाधक नही बनने देती उलटे साधक कर लेती है।

जैने द्र कुमार [साहित्य और सस्कृति]

लागो की मूखता हर चीज़ का जवाब पा लने म से प्रकट हाती है। उप यास की बुद्धिमत्ता हर चीज के आगे एक प्रश्न उठाने म निहित है। उप यास हम ससार को एक प्रश्न क रूप म स्वायत्त करना सिखाता है। इस दृष्टि म बुद्धिमत्ता है और सहिष्णुता। इसके विपरीत सवसत्तावादियो की दुनिया—चाह वह माक्स, इस्लाम अथवा किसी भी अ य बुनियाद पर क्यो न खडी हो—प्रश्नो के बदले बने बनाए उत्तरो की दुनिया होती है। वहाँ उप यास के लिए कोई जगह नही।

मिलान कु देरा [फिलिप रोथ से बातचीत]

•

हि दी के एक वरिष्ठ साहित्यकार न कुछ वप पूव एक समस्या सामने रखी थी वतमान हि दी लेखन म जा अनास्था, जो टूटन दीख पडती है, उसके बीज कहा ह ? पश्चिम के साहित्य मे अनास्था का भी एक लम्बा सिलसिला देखा जा सकता है कि तु भारतीय साहित्य की परम्परा मे तो कहीं उस तरह की अनास्था नही है, फिर एकाएक अनास्था कसे प्रगट हो गई ? दो ही बातें हो सकती ह। या तो यह अनास्था सकण्ड हैण्ड है अनुकारी है, या फिर मानना होगा कि जिसे हम आस्था का साहित्य, आस्था की परम्परा कहते हैं, वह वसा नही है उसी मे अनास्था के बीज थे।

इस तरह उठाया जाकर यह प्रश्न थोडा अटपटा भले लगे, अनगल वह नही कहा जा सकता। यो दखें तो मनुष्य को व्याप सकने वाले सशय की कौन सी

ऐसी घाटियाँ हैं जो हमारी परम्परा में नितान्त अपरिचित हों। 'संशय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥' निश्चय ही संशयात्मा होना अच्छी बात नहीं है। भक्त कवि तुलसीदास भी जानते हैं कि 'तर्क विचार' कितना दारुण हो सकता है क्योंकि तभी वे अपने आराध्य से इस त्रास के शमन की भी अपेक्षा करते हैं 'शमन सुरवन तर्क विषाद'। उनके रामचरित मानस का आरम्भ ही एक संशय प्रसंग से होता है। सती को राम के ईश्वरत्व पर ही सन्देह उपज आता है। शंकर लाख समझाते हैं पर वे राम के ईश्वरत्व की परीक्षा लेने चल ही पड़ती हैं। अपने इस संशय की कीमत उन्हें चुकानी पड़ती है पर राम कथा की पूर्णाहुति भी तो 'नाथ कृपा मम गत सन्देहा' के बिना और क्या होती? गीता का आरम्भ भी तो अर्जुन के संशय से ही हुआ है और उसका समापन भी अर्जुन के 'स्थितोऽस्मि गत सन्देहः' से। और तो और, एक प्रसिद्ध लोककथा के अनुसार एक बार स्वयं राम को अपनी सामर्थ्य पर, अपने ईश्वरत्व पर संशय उपज आया था। उन्होंने एक पत्थर उठाया और मन ही मन यह दाँव लगाते हुए उसे समुद्र में फेंकने को उद्यत हुए कि यदि यह तैर आए तो मैं राम, नहीं तो साधारण मनुष्य। तभी पास ही बैठे हनुमान ने उनकी यह हरकत भाँप ली। तत्काल उन्होंने पत्थर राम के हाथ से छीन लिया और उन्हें फटकारा कि यह आप कर क्या रहे हैं? आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।' सोचिए, अगर इस कथा में हनुमान जी राम के संशय को भाँपकर भी खुद उस संशय की प्रलोभनकारी गिरफ्त में आकर खड़े ही रह जाते तो वहाँ कौन बाइबिल वाला खड़ा था जो उन्हें बताता कि 'डाउट नॉट टेम्प्ट दाइ गॉड'?

श्री रामचन्द्र गांधी के अनुसार 'बौद्ध धर्म के उदय के उपरान्त हिन्दुस्तान का मन बहुत गहरे में द्वन्द्वात्मक हो गया है।' जयशंकर प्रसाद जो जैनेन्द्र जी के ही शब्दों में पहले बड़े नास्तिक लेखक हैं, उनके अनुसार भी भारत की चेतना का इतिहास दुःखवाद और आनन्दवाद की धाराओं के बीच निरन्तर संघर्ष का इतिहास है। पश्चिम को भी बौद्ध धर्म ही अधिक रास आता रहा है और इसका भी क्या रहस्य है कि जब हमारे समाजवादी चिन्तक देसी दिमाग की जरूरत से प्रेरित होकर परम्परा के भीतर झाँकते हैं तो उन्हें भी बौद्ध दर्शन में ही शरण मिलती है? हाँ, साहित्य-सर्जकों में जरूर दोनों तरफ बराबरी का झुकाव लक्षित होता है। मसलन क्या प्रसाद में क्या अज्ञेय में कहना कठिन हो जाता है कि किसका पलड़ा ज्यादा भारी है — वैदिक आनन्दवाद का या बौद्ध करुणा का? मोटे तौर पर इनके भाव बोध के विकास का विन्यास दर्शन का यत्न करें तो इनकी गति विद्रोही बौद्धिक प्रश्नाकुलता से

स्वीकारी सर्वाश्लेषी आस्था की ओर प्रतीत होती है। 'ट्रेजिक' का बोध दाना के सिर पर चढ के बोलता है, किन्तु कौन कह सकता है कि हमारे महाकाव्यों म भी वह नही है ?

आधुनिक हिन्दी साहित्य मे उस तरह आस्था का स्वर व्याप्त है यह कह सकना तो कठिन है, पर जो व्याप्त है वह सचमुच अनास्था ही है, यह कह पाना भी उतना ही कठिन लगता है। गतानुगतिक विश्वास को आस्था मानने म जनेन्द्र जी को भी दिक्कत होती है। विपिन अग्रवाल की एक कविता ('नग पर' सग्रह की पहली कविता) याद आ रही है जिसम इस शब्द का प्रयोग सृजन विरोधी अर्थ म हुआ है। कविता की ध्वनि यही है कि आस्था से सृजन नही हो सकता, अनुकरण ही हो सकता है। बहुत सारा साहित्य ऐसी ही सुरक्षित और प्रश्नविहीन आस्था म से आया प्रतीत होता है और उसकी अनुकरणात्मकता को सिर्फ यह कहकर सृजन का दर्जा नही दिया जा सकता कि वह आयातित नही है। जैनेन्द्र जी ने ठीक ही कहा है कि 'जब मन म प्रश्न नही उठता तो यह आस्था नही जडता है।' ध्यान देने की बात है कि वाग्देवी की पहचान ही हमारे यहा जडता को दूर भगाने वाली शक्ति' ('निःशेष जाड्यापहा') के रूप म की गई है। यदि यह बुनियादी शर्त ही पूरी नही होती, तो इसका सीधा मतलब यही निकलता है कि इस लेखक को अपनी 'वाक्देवी' पर ही आस्था नही है, और चाहे जिस पर भी हो। उस तरह की आस्था को फिर आस्था भी क्यो कहा जाय जो अर्जित नही की जाती, जो इम्तहान म भी नही पडती ? एलियट का कहना है कि निन्यानवे प्रतिशत से अधिक लोगो के लिए इस तरह का प्रश्न—यानी आस्था के सकट का प्रश्न उठता ही नही, क्योकि वे आस्था और सशय दोनो स नीचे के धरातल पर ही जीने के अभ्यस्त होते है। अर्थात गतानुगतिक विश्वास स उनका काम बखूबी चल जाता है। पर सर्जक का काम तो इस तरह नही चल सकता। सर्जक का ही क्या, सृजनशीलता का व्यापक अर्थ ले, तो बहुत सारे सवेदनशील और बुद्धिशाली लोगो का भी नही चलता। जब प्रसाद जी कहते है कि 'सवेदन, जीवन जगती को जो कटुता स देता घाट', तब क्या वे केवल आप बीती ही सुना रहे ह ? अपने जसे लाखो का हाल भी नही बता रहे हैं ?

आस्था का वह जो ऋणात्मक, सृजन द्रोही अर्थ विपिन अग्रवाल की कविता म है, वह अकारण नही है आस्था जडीभूत भी हो जा सकती है। किन्तु क्या यही खतरा सशय के साथ भी नही हो सकता ? क्या सशय भी एक सीमा के बाद जडीभूत करने वाला नही हो सकता ? हर सशय सच्ची तीखी बुद्धिमत्ता स ही उपजे यह क्यो जरूरी ह ? वह मोह स भी तो उपज सकता है—

उस 'मोह' से, जो गीता के मुताबिक पहले स्मृति भ्रंश और फिर बुद्धिनाश की ओर ले जाता है। गीता भी तो आखिर यही न कहती है कि जो अज्ञान पूर्वक अश्रद्धापूर्वक संशयात्मा है उसका नाश होता है। ऊपर हमने चेक उपन्यासकार मिलान कुंदेरा का जो कथन उद्धृत किया है, वह क्या मुक्तिबोध की उस प्रसिद्ध उक्ति को आमंत्रित करता सा लगता है कि 'प्रश्न का उत्तर के सिंहासन पर नहीं बिठाया जा सकता'? जनेन्द्र जी भी तो प्रश्नाकुलता को संशयात्मकता से अलग करते हुए कहते हैं कि केवल प्रश्न संशय है। क्यों कहते हैं वे ऐसा? उपनिषद् में एक जगह याज्ञवल्क्य गार्गी को चेतावनी देते हुए कहते हैं — 'गार्गी, यह अतिप्रश्न है। अतिप्रश्न मत कर। नहीं तो तेरा मस्तक भंड जाएगा।' क्या जनेन्द्र जी का 'केवल प्रश्न', यही 'अतिप्रश्न' है? फिर प्रश्न उठेगा कि आज के इस बुद्धिवादी युग में अतिप्रश्न से भी कैसे बचा जाएगा? जनेन्द्र जी पहले ही यह बलपूर्वक कह चुके हैं कि आस्था की कसौटी प्रश्न है उसकी खुराक भी यह प्रश्न ही है। तब फिर? क्या मिलान कुंदेरा भी प्रकारान्तर से यही नहीं कह रहा है? क्या आस्था और संशय को विपरीत ध्रुवों पर रखने के पीछे जनेन्द्र जी की श्रद्धा विषयक बुद्धि ही काम कर रही है? वे प्रश्न को आस्था की खुराक मानते हैं। यह तभी हो सकता है जब प्रश्न भोज्य बने रहें। जनेन्द्र जी का मानना है कि 'जिसकी कीमिया से प्रश्न अपनी दांतेदार काट भाड़ कर स्वयं हविष्य बन जाता है, वह श्रद्धा द्वारा सम्पन्न होती है।' अर्थात् श्रद्धा एक रूपान्तरकारी ऊर्जा है — प्रश्न उठाने वाली तर्क बुद्धि और जीवन को धारण करने वाली आस्था के बीच। अगर यह ऊर्जा कुंठित हो जाती है तो तर्क बुद्धि की केवल प्रश्नलता आस्था को खा जाएगी और यह न सही तर्कशील मानव की, परंतु सम्पूर्ण मानव की, अर्थात् श्रद्धा बुद्धि समन्वित और चराचर सृष्टि से संवेदित मानव की पराजय होगी। वह संशय होगा — जीवन की गति को अवरुद्ध और जड़ीभूत कर देने वाला, तथा सृष्टि के छन्द को भी बिगाड़ देने वाला संशय।

निश्चय ही जनेन्द्र जी यहाँ सिर्फ साहित्य और कला की ही सृजनशीलता के लिए चिंतित नहीं हैं। अन्यथा हम कह सकते कि पश्चिम का उदाहरण ही पर्याप्त है यह दिखाने के लिए कि केवल प्रश्न केवल संशय भी दर्शन और साहित्य की सृजनशीलता को कुंठित करता नहीं दिखाई देता। हम यह भी कह सकते कि इस संशयात्मा साहित्य और चिंतन ने हमारे अपने साहित्य का हमारे अपने सोच विचार का भी सिर्फ अहित ही नहीं किया है काफी कुछ उपकारक भी हुआ है वह—हमारी आत्मतुष्टि को झकझोरते हुए। पर इतना तो

जनेन्द्र जी भी जानते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि 'पुराने मत-विश्वासों का यह विखण्डन, आस्था का यह विघटन शायद किसी नई सम्पूर्णता समग्रता के उद्भव की भूमिका है।' अर्थात् अपने पश्चिमी समानधर्माओं की तरह — मसलन हेमिंग्वे की ही भांति — वे आधुनिक अनास्था और विघटन से आतंकित नहीं है। हमारे मन में तब सहज ही प्रश्न उठता है कि उनकी आशा का, आस्था का आधार क्या है ?

जनेन्द्र जी कहेंगे कि 'आस्था से अलग उसके आधार को नहीं देखा जा सकता।' फिर भी उन्हीं के तर्क की संगति में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः उनकी आस्था स्वयं उस श्रद्धा बुद्धि में होगी जो तर्क बुद्धि का पूरा लाभ उठाकर भी उसे गति में बाधक नहीं होने देती और जीवन की समग्रता में दरार नहीं पड़ने देती। किन्तु क्या यह दरार मात्र दार्शनिक संशय से पड़ सकती है ? हेमिंग्वे की एक कहानी यहां याद आ रही है — 'द गैम्बलर, द नन, द रेडियो'— जिसके केन्द्र में एक जुआरी है, असाध्य जुआरी, जो कभी नहीं जीत सकता। मगर जो दांव लगाए बिना भी नहीं रह सकता। हेमिंग्वे की कई सारी अन्य कहानियों की तरह इस कहानी में भी साक्षी चेतना की तरह उपस्थित एक लेखकनुमा पात्र है—फ्रेजर, जो अनुभूति की एक कौंध में देखता है कि धर्म ही क्यों, और भी बहुत सारी चीजें हैं जो जनता की अफीम कही जा सकती हैं 'धर्म, अर्थशास्त्र, देशभक्ति, मैथुन, शराब, रेडियो जुआ, महत्वाकांक्षा, राज्य व्यवस्था की कोई नई संकल्पना ' क्या ये सभी जनता की अफीम नहीं हैं ? मगर 'फिर भी'—वह आगे खुद से सवाल करता है— 'जनता की असली अफीम क्या है ?' उसे लगता है, वह जानता है। क्या है वह ? निश्चय ही रोटी। रोटी भी जनता की अफीम है। स्पष्टता के इस क्षण में वह पुलिस वाले से प्रश्न करता है—'व्हाट आर नाट आल द ओपियम्स आव द पीपुल गुड ? व्हाट डू यू वाण्ट विद द पीपुल ?'

'हमें इन लोगों को अज्ञान से मुक्त करना है।' पुलिसवाला जवाब देता है।

'बकवास बन्द करो' — फ्रेजर पुलिस वाले से कहता है — 'शिक्षा जनता की अफीम है। तुम्हें यह मालूम होना चाहिए।'

'क्या तुम शिक्षा में विश्वास नहीं करते ?' पुलिस वाला चकरा जाता है।

'नहीं'—फ्रेजर कहता है। 'हां, ज्ञान में जरूर मेरा विश्वास है। पर तुम्हारी शिक्षा में नहीं।'

फ्रेजर इस 'ज्ञान' का खुलासा नहीं करता। बेचारा स अज्ञात हेमिंग्वे भी नहीं करता। पर तथाकथित अज्ञान को तथाकथित ज्ञान से मिटाने के

उस 'मोह' स, जो गीता के मुताबिक पहल स्मृति भ्र श और फिर बुद्धिनाश की ओर ले जाता ह। गीता भी ता आखिर यही न कहती है कि जा अनान पूवक अश्रद्धापूवक सशयात्मा है, उसका नाश हाता है। ऊपर हमने चेक उपन्यासकार मिलान कुन्देरा का जो कथन उद्धत किया है, वह क्या मुक्तिबोध की उस प्रसिद्ध उक्ति को आमन्त्रित करता सा लगता है कि 'प्रश्न का उत्तर के सिंहासन पर नही बिठाया जा सकता ? जनेन्द्र जी भी ता प्रश्नाकुलता को सशयात्मकता से अलग करत हुए कहत हैं कि केवल प्रश्न सशय है। क्यो कहते हैं वे एसा ? उपनिषद् म एक जगह याज्ञवल्क्य गार्गी को चेतावनी देत हुए कहत है — गार्गी यह अतिप्रश्न है। अतिप्रश्न मत कर। नही तो तरा मस्तक फट जाएगा।' क्या जनेन्द्र जी का केवल प्रश्न, यही अतिप्रश्न' है ? फिर प्रश्न उठेगा कि आज के इस बुद्धिवादी युग म अतिप्रश्न स भी कस बचा जाएगा ? जनेन्द्र जी पहले ही यह बलपूवक कह चुके है कि 'आस्था की कसौटी प्रश्न है, उसकी खुराक भी यह प्रश्न ही है।' तब फिर ? क्या मिलान कुन्देरा भी प्रकारान्तर से यही नही कह रहा है ? क्या आस्था और सशय को विपरीत ध्रुवो पर रखन के पीछे जनेन्द्र जी का श्रद्धा विषयक बुद्धि ही काम कर रही है ? वे प्रश्न को आस्था की खुराक मानत है। यह तभी हो सकता है जब प्रश्न भोज्य बने रह। जनन्द्र जी का मानना है कि जिसकी कीमिया स प्रश्न अपनी दांतेदार काट फाड कर स्वय हविष्य बन जाता है, वह श्रद्धा द्वारा सम्पन्न होती है। अथात् श्रद्धा एक रूपान्तरकारी ऊर्जा है — प्रश्न उठाने वाली तक बुद्धि और जीवन को धारण करन वाली आस्था के बीच। अगर यह ऊर्जा कुठित हो जाती है तो तक बुद्धि की केवल प्रश्नता आस्था को खा जाएगी और यह न सही तकशील मानव की, परतु सम्पूण मानव की, अथात् श्रद्धा बुद्धि समन्वित और चराचर सृष्टि स सवेदित मानव की पराजय होगी। वह सशय होगा — जीवन की गति को अवरुद्ध और जडीभूत कर देने वाला, तथा सृष्टि के छन्द को भी बिगाड देने वाला सशय।

निश्चय ही जनेन्द्र जी यहाँ सिफ साहित्य और कला की ही सृजनशीलता के लिए चिंतित नही हैं। अन्यथा हम कह सकते कि पश्चिम का उदाहरण ही पयाप्त है यह दिखाने के लिए कि केवल प्रश्न, केवल सशय भी दशन और साहित्य की सृजनशीलता को कुठित करता नही दिखाई देता। हम यह भी कह सकत कि इस सशयात्मा साहित्य और चिंतन ने हमारे अपने साहित्य का, हमारे अपन सोच विचार का भी सिफ अहित ही नही किया है, काफी कुछ उपकारक भी हुआ है वह—हमारी आत्मतुष्टि को झकझोडत हुए। पर इतना तो

जनेन्द्र जी भी जानते है। वे तो यहाँ तक कहते है कि 'पुराने मत विश्वासो का यह विखण्डन, आस्था का यह विघटन शायद किसी नई सम्पूर्णता समग्रता के उद्भव की भूमिका है।' अर्थात् अपने पश्चिमी समानधर्माओ की तरह — मसलन हमिग्वे की ही भाति — वे आधुनिक अनास्था और विघटन से आतकित नही हैं। हमारे मन म तब सहज ही प्रश्न उठता है कि उनकी आशा का, आस्था का आधार क्या है?

जनन्द्र जी कहग कि आस्था से अलग उसके आधार का नही देखा जा सकता।' फिर भी उन्ही क तक की समति म यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत उनकी आस्था स्वय उस श्रद्धा बुद्धि म होगी जो तक बुद्धि का पूरा लाभ उठाकर भी उस गति म बाधक नही होने देती और जीवन की समग्रता म दरार नही पडने देती। कि तु क्या यह दरार मात्र दार्शनिक सशय से पड सकती है? हमिग्व की एक कहानी यहा याद आ रही है — 'द गैम्बलर, द नन, द रेडियो'— जिसके केन्द्र म एक जुआरी है, असाध्य जुआरी जो कभी नही जीत सकता। मगर जो दाव लगाए बिना भी नही रह सकता। हमिग्व की कई सारी अन्य कहानियो की तरह इस कहानी म भी साक्षी चेतना की तरह उपस्थित एक लेखकनुमा पात्र है—फ्रेजर, जो अनुभूति की एक कौध म देखता है कि धम ही क्यो, और भी बहुत सारी चीजें हैं जो जनता की अफीम कही जा सकती है 'धम, अथशास्त्र, देशभक्ति मथुन शराब, रेडियो जुआ, महत्वाकाक्षा, राज्य व्यवस्था की कोई नई सकल्पना ' क्या य सभी जनता की अफीम नही है? मगर 'फिर भी'—वह आगे खुद से सवाल करता है— 'जनता की असली अफीम क्या है?' उसे लगता है, वह जानता है। क्या है वह? निश्चय ही रोटी। रोटी भी जनता की अफीम है। स्पष्टता के इस क्षण मे वह पुलिस वाले स प्रश्न करता है— व्हाट आर यू अगेंस्ट ऑल द ओपियम्स आव द पीपुल गुड? व्हॉट डू यू वाण्ट विद द पीपुल?'

'हम इन लोगो को अज्ञान से मुक्त करना है।' पुलिसवाला जवाब देता है।

'बकवास ब द करो' — फ्रेजर पुलिस वाले से कहता है — शिक्षा जनता की अफीम है। तुम्हे यह मालूम होना चाहिए।'

'क्या तुम शिक्षा मे विश्वास नही करते? पुलिस वाला चकरा जाता है।

'नही —फ्रेजर कहता है। 'हा, ज्ञान म जरूर मरा विश्वास है। पर तुम्हारी शिक्षा मे नही।'

फ्रेजर इस 'ज्ञान' का खुलासा नही करता। कथाकार स अक्रान्त हमिग्वे भी नही करता। पर तथाकथित अज्ञान को तथाकथित ज्ञान स मिटान के

नास्तिक लेखक है। प्रेमचन्द मूल में नास्तिक नहीं थे। उनकी नास्तिकता ईश्वर के आसपास चुक जाती थी। बस वह विश्वासी थे और बेहद मजबूती के साथ। प्रसाद ने हर मत मान्यता को सामाजिक हो कि नैतिक हो, धार्मिक हो कि राजनैतिक, प्रश्नवाचक के साथ लिया। 'कंकाल' इसी से इतना भयंकर हो उठा है शल्यक्रिया से भीतर के कदर्य और कुत्सित को बाहर ला बिखरने में प्रसाद को हिचक नहीं है।'

मैं नहीं समझता कि प्रसाद के किसी भी आलोचक ने प्रसाद के बारे में ऐसी बात कही होगी। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का कौन दूसरा भारतीय लेखक आधुनिक भाव बोध में अन्तर्भूत आस्था और संशय के अन्तर्द्वन्द्व को अपनी समूची परम्परा के परिप्रेक्ष्य में इतने गहरे झलकाता है, मुझे नहीं मालूम। इतिहास बोध और परम्परा बोध, यथार्थ चेतना और मूल्य-चेतना, भरपूर ऐन्द्रिकता और भरपूर बौद्धिकता के समान रूप से सिर पर चढ़कर बोलने वाले तकाजे को इस तरह निभाना कितना मुश्किल है, यह प्रसाद के तुरन्त बाद की पीढ़ी ने और उसके बाद भी अभी तक छा रहे विभक्त मानसिकता के घटाटोप ने अच्छी तरह हमारे सामने उजागर कर दिया है। किन्तु क्या स्वयं प्रसाद को लेकर हमारे भीतर संशय नहीं उठता ? 'कंकाल' का लेखक आखिर 'कामना', 'कामायनी' और 'एक घूंट' का लेखक भी तो है। क्या हममें से कइयों को 'कामायनी' की आशा और आस्था की अपेक्षा गोदान का नैराश्य अधिक सृजनात्मक नहीं प्रतीत हुआ है ? कहीं ऐसा तो नहीं, कि जैनेन्द्र जी प्रसाद में अपने ही एक पहलू का आभास पाते हुए सृजनात्मक अतिरंजना कर रहे हों ? मगर इससे पहले, कि हम किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकें हमें जैनेन्द्र जी की पूरी बात सुननी पड़ेगी। प्रसाद प्रसंग अभी पूरा नहीं हुआ। जैनेन्द्र जी आगे कहते हैं —

'नकार और निषेध को लेकर उठने वाले दर्शनों का उन्होंने प्राणपण से निराकरण किया और उस दर्शन को प्रतिष्ठित करना चाहा जो जीवन के प्रति निरपवाद स्वीकृति का निमन्त्रण देता है। हिन्दुत्व की उनकी ऐसी ही धारणा थी। बौद्ध और जैन परम्पराओं में उन्होंने वर्जन पर बल देखा और वह उन्हें किसी भी रूप में मान्य नहीं था। मुझे लगता है, जैसे यही उनके साहित्य का मूलभार, मूल कोण है।

यहां पर पाठक के मन में सहज ही शंका उठेगी और उठनी चाहिए कि जैनेन्द्र जी क्या अपनी ही पहले वाली बात का खण्डन नहीं कर रहे हैं ? कहाँ 'पहला बड़ा नास्तिक लेखक' और कहां 'नकारवाद निषेधवाद का प्राणपण

से निरानरण करन वाला' । दानो के बीच आखिर कम गगति विठात है जने द्र जी ?

जनेन्द्र जी इसक उत्तर म एक वडी विचारोत्तजक बात कहत हैं—

' प्रसाद की अतिशय मप्रश्नता प्रसर बौद्धिकता जसा कि अनिवाय है उन्ह उस जगह तक ले गई जहाँ सुद बुद्धि पर टिका रहना व्यक्ति के लिए सभव नही रहता । अपनी परिपक्व परिणति म बुद्धि यह दिखाए बिना नही रह सकती कि वह अपयाप्त है और श्रद्धा म ही पूरी हो सकती है । इसका आशय यह न समभा जाय कि पहली वाली मरी स्थापना सदोष है । बल्कि यही, कि श्रद्धा की स्वीकृति प्रसाद को बुद्धि द्वारा ही हो सकी है । जस बुद्धि माध्यम है, श्रद्धा बिना उसक अगम है ।

क्या इसस हमारा समाधान हो जाता है ? दशनिक हगल कहता है कि मानव जाति का ही क्या विश्वात्मा का भी विकास और उसकी प्रौढावस्था पाश्चात्य तक बुद्धि के विकास का ही प्रतिफल है । श्रद्धालु भारतीय दशन और भारतीय सस्कृति तो उसकी स्वप्नावस्था है बचपन की मुग्धावस्था है । इसके ठीक विपरीत जने द्र जी की यह प्रतीति है कि अपनी परिपक्व परिणति म बुद्धि स्वय यह दिखाती है कि वह श्रद्धा म ही पूरी हो सकतीहै । आर जनेन्द्रजी के मुताबिक यह स्वय प्रसाद की अपनी प्रतीति थी । पर जनेन्द्र स्वय क्या सोचते ह ? वे तो प्रसाद नही ह । क्या उनकी स्थिति प्रसाद और प्रेमचन्द के बीच कही है ? प्रश्न भोज्य बने रह इस स्पक की मगति क्या बुद्धि की परिपक्व परिणति से बठती ह ? प्रश्न आस्था की कसौटी है उसकी खुराक है, यह कहने म क्या आस्था पहल से दी हुई मिली हुई मान ली गइ ह ? श्रद्धा की जिस रूपान्तरकारी भूमिका का उन्हाने पहचाना ह वह अवचेतन है कि अतिचेतन ? प्रक्रिया है कि परिणाम " जस बुद्धि माध्यम ह श्रद्धा बिना उसक अगम ह' क्या यहा जने द्र जी जान बूझ कर श्रद्धा और बुद्धि को कुछ ज्यादा ही ध्रुवीकृत रूप मे देख रह है ? आर इस तरह आधुनिक मन स्थिति के हिसाब स तकशील मनुष्य के लिए 'इर्रेशनल' की स्वीकृति क लिए गुजाइश बना रहे है ? एम एन रॉय ने गाधीजी की मत्यु पर एक मार्के की बात कही थी, कि गाधी भारत की सम्पूण परम्परा का प्रतिनिधित्व करत ह उसके सर्वोत्कृष्ट नतिक तत्वो का भी और उसकी घार इर्रेशनलिटी' का भी । मरे मन म प्रश्न उठता है कि जने द्र जी के उपयासा म जो आद्योपात छाया हुआ प्रेमतत्व है वह कही उनकी नतिकता और इर्रेशनलिटी के बीच की दुहरी खीच का परिणाम तो नही ? एक ओर बुद्धि विरोध का उनका स्थायीभाव और दूसरी ओर तकशीलता का गहरा व्यसन—क्या दाना म

अन्तर्विरोध नहीं ? क्या इसी अन्तर्विरोध का शमन वे 'प्रेम' नामक तत्व में ढूढते हैं ?

निश्चय ही जनेन्द्र जी की आस्था 'प्रेम तत्व' में है पर यह प्रेम तत्व दो तरफ से घिरा हुआ है नान की तरफ से भी और कर्म की तरफ से भी। यह आकस्मिक नहीं है कि इस प्रेम तत्व का प्रतीक भी उनके लिए गाधी हैं। यह भी मात्र सयोग नहीं है कि जिस तरह वे प्रसाद की बौद्धिक 'इंटेग्रिटी' पर निछावर हैं, उसी तरह प्रेमचन्द की विशालहृदय सरलता पर भी। प्रेमचन्द जहा अन्त करते हैं वहा से प्रसाद ने आरम्भ किया था। प्रेमचन्द की आस्था जनेन्द्र के ही शब्दों में यदि 'अन्त की ओर कुछ हिली हुई' जान पडती है तो वह शायद इसलिए कि वह प्रसाद की तुलना में सरल आस्था थी—बुद्धि की सप्रश्नता और उसकी परिपक्व परिणति से उबरी हुई आस्था नहीं थी। पर वह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है श्रद्धा और बुद्धि के सृजनात्मक सम्बन्ध के प्रति जनेन्द्र जी का दृष्टिकोण। प्रसाद वाली उनकी ऊपर की बात से प्रतीत होता है कि वे जिस तरह श्रद्धा के सत्य को सरलता के सत्य को मनमाने दिमागी तौर पर सरलीकृत करके नहीं देखते, उसी तरह बुद्धि के सत्य को, अनिवार्य जीवन की जटिलता के सत्य को भी इच्छित चिंतन में नहीं घुलाएँगे। कोई उनसे शिकायत कर सकता है कि वे जिस तरह प्रसाद में कुछ अधिक पढ जाते हैं उसी तरह गाधी में भी कुछ अधिक देख जाते हैं। ऐसा अगर हो भी, तो वह एक तथ्य की ही रचनाधर्मी अतिरजना होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रद्धा — (और जडता को नष्ट करने वाली वाक्शक्ति सरस्वती भी) एक उभयमुखी क्षमता रखती है। उसमें रचनात्मक स्वीकार भाव और रचनात्मक अस्वीकार — 'एफरमेटिव कपेबिलिटी' और 'नेगेटिव कपेबिलिटी' दोनों ही होनी चाहिए। नहीं तो वह सृजनद्रोही आस्था है गतानुगतिक विश्वास है। जनेन्द्र गाधी को टगोर की आख से नहीं देखते गाधी उनके लिए एक कठोर नैतिक शुद्धतावादी या तथाकथित विश्व मानव की एकता में बाधक पश्चिम द्रोही बहिष्कारवादी नहीं हैं, बल्कि सत्यान्वेषी और आत्म-बलिदानी प्रेम के ज्वलन्त प्रतीक हैं। वे गाधी को सैद्धान्तिक व्यक्ति नहीं मानते मात्र कर्मयोगी भी नहीं मानते, प्रेम योगी मानते हैं। सवाल है, उनके यहा यह प्रेम किस तरह आता है ?

जनेन्द्र का यह प्रेम अपनी वचारिक ही नहीं, औपन्यासिक अभिव्यक्ति में भी टाल्सटाय वाले प्रेम से भिन्न है। उसमें एक लगभग जुआरी जसी टेक है किसी विचार का उसकी आत्यन्तिक परिणति तक पहुचाने की दॉस्तॉएवस्की जसी जिद हम उनके उपन्यासों में पाते हैं यथा 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में,

और क्या उनके दशाक म। सब कुछ हो जाने की यह तत्परता और प्रतिभा क्या जताती है? प्रसगवशात् यहा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जनेन्द्र जी इस प्रतिभा नाम की चीज म ही विदकते है। उन्ह जीनियस की अवधारणा, यहा तक कि कर्ता जसी चीज की अवधारणा भी फिजूल बकवास लगती है। इसका क्या कारण है? साहित्यकार किसी भी तरह साधारण नागरिक स ऊचा और अलग नही है'— वे कहते है, और यह भी कि राज्य सर्वोपरि नही राज्य के ऊपर ऋषि है — नितान्त स्वत्वहीन मानवता का प्रतिनिधि। यदि साहित्यिक उस निरीह मानवता की ओर बढता हो, तभी उसके लिए उपयुक्त है कि वह पद पुरस्कार के लिए राज्य के पास न जाए। पर वह रास्ता बीहड है। साहित्य का धम प्रेम का धम है। यहा पर प्रश्न उठता है क्या जनेन्द्र जी इस तरह प्रेम के धम को ऋषि के धम स व्यवहार क धरातल पर ही नही मूल्य चेतना के धरातल पर भी खतरनाक तरीके स अलग नही किए दे रहे ह? ऋषि धर्म की उनकी समझ वहाँ तक समीचीन है? क्या वाक् धम (सृजन धम) और ऋषि धम का अलगाया जा सकता है? आधुनिक राज्य म आधुनिक भारत में राज्य सत्ता के ऊपर माने जाने वाले उस ऋषित्व का प्रतिनिधित्व कौन करेगा? अगर वहाँ खोखल है तो क्या जनेन्द्र जी का यह प्रेम धम उसे भर सकता है? आधुनिक काल म जहा राज्यसत्ता ही उस नितात स्वत्वहीन मानवता की प्रतिनिधि बनकर और विराट विश्व प्रेम की भी दावेदार बनकर उपस्थित है जनेन्द्र जी का यह प्रेम क्या उसस टकरा सकता है? क्या टकराने पर वह उसी म विनीन नही हो जाएगा? क्या जैनेन्द्र जी का प्रेम धम इस तरह अनजाने ही स्वय वाक तत्व का, और उस तरह रचना कम का भी दरजा नही घटा देता। उस नाम स वियुक्त करके महज कम मे रिडयूस नही कर देता?

इस यह सशय मानता है। पर जनेन्द्र जी को पता नही यह सशय उस तरह सालता है कि नही? कम से कम उनके अभी हाल ही म छप उपन्यास दशाक को पढकर तो मन पर यही छाप पडती है। कवि आलोचक साही न कही लिखा है कि प्रसाद जी दशन का अनुभूति म घुलाने के बदले अनुभूति को ही दशन म घुला देते हैं। क्या जनन्द्र जी के बाद के उपन्यासो पर यह बात लागू होती है? क्या सचमुच 'मृणाल' और 'सुनीता' के सृष्टा, कल्याणी और असरानी जसे चरित्रो के जरिए मनुष्य नामक अँधेरे कुए मे छलाग लगा देने वाले जनेन्द्र एक हैं और मुक्तिबोध तथा दश लिखने वा और? या कि इस तरह का विभाजन देए मे

साहित्यिक अध्यारोप होगा ? दिक्कत कहा है ? स्वय आस्था मे, या आस्था और सशय के सृजनात्मक सम्ब ध की अबूझ और असूझ लीला मे ?

मृणाल की कथा घोर दु खात थी। कल्याणी की कथा उससे भी अधिक दु खात थी उस रचना मे जने द्र जी मानो अधेरे को ही आखें फाड फाड कर देख रहे थे। वह दिन दहाडे दु स्वप्न था। मृणाल की टजेडी को तो सह्य बनाने वाली फिर भी एक चीज वहा मिलती है वकील प्रमोद का 'त्याग पत्र', जो स्वय गाधी जी द्वारा की गई एक बेमेल और शोषणधर्मी न्याय-व्यवस्था की बुनियादी आलोचना का सटीक और जीव त स दम देता है और इस नाते सचमुच असहयोग जसा कुछ रचनात्मक मूल्य उभारता है। 'कल्याणी' के दु स्वप्न म तो कही कोई राहत ही नहीं है। इसलिए, कि वहा हमारा सामना असरानी से होता है जिससे हम नरपिशाच कहके भी पिंड नही छुडा सकते। इसलिए, कि असरानी को हम गहरे कही अपने भीतर ही पहचानत है उस कठोर हृय बुद्धिजीवी वग के एक साधारण सदस्य के रूप मे, जो पिछले पचास बरसो म खूब पनपा बढा है और जिसे गाधी ने अपने जीवन का सबसे लम्बा दु स्वप्न बनाया था। यह मात्र यथाथवादी यथाथ नही है बल्कि सत आग्रही स्वाथ है जिसे अनदेखा करना उस आस्थावान् लेखक के लिए भी कभी सम्भव नही होता, जिसकी आस्था प्रश्नाकुलता की खुराक पाकर ही जिन्दा रहती है।

दशाक' सुखा त है। रजना फिर से सरस्वती बनकर घर लौट आती है — अभेदानद के भयामयम पर कटाक्ष करती हुई, जो कतई सिनिक नही लगता। श्रद्धावान भारतीय सस्कृति के मुताबिक भी तो वह 'सरस्वती' ही है जिसके पास हम अपने जीवन मे घुसपठ करती जडता के परिहार के लिए जाते है। 'दशाक' म जने द्र जी ने मानो खुद अपनी सरस्वती को बाहर की अतला त असुरक्षा मे, झोक दिया है और वहा से उसे अक्षत घर लौटा लाए हैं। मन म प्रश्न उठता है सृजन की गुणवत्ता क्या आस्था के साथ साथ सशय की गुण वत्ता स भी अनिवाय रूप स नही जुडी है ? 'त्यागपत्र' दु खा त होकर भी उदास नही करता। 'दशाक' सुखा त होकर भी मन मे जमी उदासी की परता को नही तोड पाता। इसका क्या कारण है ? क्या हम इस प्रश्न का — इस निमित्त से उकसाए गए अपने सशय का थोडी दूर तक और पीछा कर सकते हैं ?

•

जसे साहित्य के क्षेत्र म भी सृजनात्मक गति साहित्यिक परम्परा से विचलित होकर ही आती है वस ही क्या विचारा की सृजनात्मकता के स दम मे, दशन

के क्षेत्र में भी नहीं होगा ? अपने संशय का सामना करना दोनों के स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। इस जरूरत के आड़े आती है परम्परा — खासकर तब जब वह इतनी समावेशी और विरोधों का सामंजस्य करने वाली हो। पर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उस परम्परा का प्राणतत्व उसके केंद्र में निहित एक खतरनाक खुलापन ही है जो न केवल मसीही धर्मों की केंद्रीय मतवादिता से अलग है बल्कि रीजन को केंद्र बनाकर उसी से विकसित होने वाली यूनानी संस्कृति से भी। यह खुलापन हमें जितना ही विचार और संवेदन के स्तर पर सहजवेध्य बनाता है उतना ही यह ही हमारे ऊपर सब कुछ के लिए जिम्मेदारी का बोझ भी डाल देता है। ऐसी और इतनी स्वाधीनता हमेशा अराजकता की सम्भावना लिए होने के कारण एक तरह की सुरक्षा ग्रंथि भी पैदा कर सकती है जीवन और विचार दोनों जगह बाड़ेबन्दी की शिकार हो जा सकती है। यह भी है कि वैचारिक नवोन्मेष की कमी को साहित्यिक रचना से नहीं भरा जा सकता न साहित्यकार खुद उस तरह विचारक का आपद्धर्म निवाह कर उस वातावरण को निर्मित कर सकता है जिसे कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने वैचारिक स्वराज्य का नाम दिया था। वैचारिक स्वराज्य की समस्या आस्था और संशय के द्वंद्व की मनोभूमि पर ही अपने उस खुलेपन को अक्षुण्ण रखते हुए उन प्रश्नों का सामना करने की है जो आज के युग को मथ रहे हैं। जैनेन्द्र जी का इधर जो एक नया मुहावरा सूझा है, आक्रामक प्रेम का, क्या उसकी दिशा यही है ? पश्चिम की विद्वता और धार्मिक दार्शनिक साहित्यिक रचनात्मकता भी शुरू से ही अधिग्रहणशील (एप्रोप्रिएटिव) रहे हैं और उनकी इस प्रवृत्ति में पिछली सदी और इस सदी के दौरान वृद्धि ही हुई है। क्या हमारी वर्तमान प्रवृत्ति और गति इसके विपरीत ही नहीं दिखाई देती ? हमारी आस्था और हमारे संशय दोनों की ही गुणवत्ता की माप हम पश्चिम के मानदंडों में ही करने के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि शायद इस ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता। खुलेपन का मतलब एक आत्महीन उन्मुख उदारता नहीं है न निष्क्रिय आत्मसमर्पण और न प्रभाव ग्रहण की यांत्रिक क्षमता। पश्चिम हमारे लिए अपनी पहचान का निमित्त बने इस आपद्धर्म का निवाह गांधी जी ने भी किया और बिलकुल अपने ढंग से रचनात्मक ढंग से किया। वे निश्चय ही हमारे मानसिक आलस्य को काफी कुछ झकझोरते हैं। किन्तु ऐसा कोई दावा उन्होंने कभी नहीं किया कि वे हमारी वैचारिक दरिद्रता का भी इलाज करने आए हैं। जीवन या विचार का रचनात्मक अधिग्रहण एक चीज है और आलोचनात्मक चिंतन-मनन दूसरी। क्या एक के अभाव को दूसरे से पाटा जा सकता है ?

देश की जिस द्विविध मानसिकता को हमने पहले गाधी और अरविन्द के द्वद्व के रूप मे, और फिर गाधी-टैगोर, गाधी-नेहरू के द्वन्द्व के रूप म झेला है, क्या उसक सन्दभ मे हमने गाधी को लेकर परम्परा से उनकी सगति या विचलन को लेकर अपने प्रश्नो का सामना वचारिक धरातल पर किया है। क्या मुल्कराज आनन्द का अनटचेबल' या राजाराव का 'कठपुरा' ही इस सम्बन्ध मे हमारे आत्म मथन का पर्याप्त प्रमाण हो जाता है ?

मुझे बरसो पूव रोगशय्या पर पडे मुक्तिबोध से हुई एक बातचीत याद आ रही है। वे और परसाई जी आपस म सहमत हो रहे थे कि जनेन्द्र के चितन मे गडबडिया ही गडबडिया हैं। मुझसे नही रहा गया तो मैंने बीच मे उन्हे टोका। पूछा 'क्या हम जनेन्द्र के चिन्तन को उनकी रचना से अलग करके दोनो के साथ अन्याय नही कर रहे हैं ?' मुक्तिबोध तत्काल बोल पडे—'नही, नही। सजक के रूप म तो जनेन्द्र, वात्स्यायन जी से भी ऊचे हैं। मैं तो उनके चिन्तक रूप की ही आलोचना कर रहा था। मुक्तिबोध के इस उत्तर से मेरा तब भी समाधान नही हुआ था और आज भी नही हो रहा है। मुझे लगता है प्रसाद को लेकर भी शायद मुक्तिबोध के मन म कुछ इसी तरह की बात रही हो। यह भी एक दिलचस्प सवाल है कि जहा एक ही व्यक्ति रचनाकार भी हो और विचारक भी, वहा उसके इन दोनो पक्षो के बीच सम्ब ध सीधा होगा कि तिरछा ? जनेन्द्र रचनाकार होने से विचारक होने की ओर बढे है और अपनी जीवनानुभूति के मपीडन मे से ही बढे है। पर अपने आप मे यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या एक रचनाकार की जीवन यात्रा म यह अनिवाय है कि ज्यो ज्यो वह प्रौढ होता चले त्यो त्या उसकी रचना मे अनिश्चय, अपूर्वानुमेयता, भावावेग की अतक्य गतिया छटती चली जाए और आस्था की तार्किकता दढतर और स्पष्टतर होती जाए ? यानी अवचेतन की खीच कम होती जाय और चेतन का नियत्रण बढता जाय — कथ्य और चरित्र और कथा भाषा भी पूरी तरह आस्था निर्दिष्ट होते जाय ? निश्चय ही एक दृष्टि से देखने पर यह आस्था की सशय पर विजय है और आदश तो यही सुझाएगा कि ऐसा होना ही चाहिए। वह रचना ही क्या, जो स्वय रचनाकार को सशय से न उबार सके ? पर मेरे मन मे सशय उठता है कि क्या ऐसा होना लाजिमी है ? हो भी तो, यह ऋषि धम से वियुक्त प्रेम धम क्या एक तरह के भावुक या बौद्धिक आग्रह मे ही जडीभूत नही हो जाता ? जडीभूत न भी कहे उसे, तो यह सवाल तो उठता ही है कि क्या इस तरह की आस्था — निर्दिष्ट रचना म — चाहे वह मुक्त प्रेम की आस्था ही क्या न हो — उस जोखम उठाने वाले खुलेपन और लचीलेपन की गुजाइश कम नही हो जाती जो

युग सत्य को चरितार्थ करती है, और उसके साथ कुछ करती भी है, कुछ हलचल भी मचाती है। मगनन 'शाक' म रजा के अन्तर्द्वन्द्व का ही एक चित्र देखें —

'उसे अपने सम्बन्ध मे एक और सशय हो निकला था। उसे लगता था वह जगत की है नही, हो नही पाती है। सिर्फ वहा म सवाद प्राप्त करती है, स्वय असम्पृक्त बनी रहती है। सिर्फ द्रष्टा और दर्शक बने रहना उसे मजूर नही है। वह जग के सारे लोगो के सुख दुःख म सम्मिलित हो रहना चाहती है पर देखती है कि वह जानती ही ज्यादा है जीती कम है। उसे यही शिकायत थी कि साहित्य और दर्शन और धर्म के ग्रन्थ बस दृष्टि और द्रष्टा की अदा दे गए हैं जूझने की वृत्ति नही। उसे चिढ है निपट निस्सग सी बनी रहने से। लेकिन देखती है कही वह उसी मार्ग पर तो फिसली नही जा रही है।

क्या यह प्रेम का दर्शन है ? क्या यह रचना का दर्शन है ? जनेन्द्र जी की अपने ही बारे म लिखी एक घटना याद आ रही है। वे बहुत अरसे से लिखना चाह कर भी नही लिख पा रहे थे। भीतर एक जडता थी लिखने की बेचनी थी, पर प्रेरणा नही। इसी मन स्थिति में एक दिन वे बाहर निकले और स्वय सेवको की टोली मे नाम लिखा आए। यह निर्णय लेते ही उनकी कलम चल निकली और रचना का अवरुद्ध स्रोत भीतर से फूट पडा। जनेन्द्र जी अक्सर कहते भी रहे हैं कि मेरा लिखने का निमित्त हमेशा बाहर से आता है। इसका धनात्मक पक्ष तो स्पष्ट ही है जनेन्द्र भल जितने अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी कलाकार माने जाते रहे हो पर रचना के मूल का ही इतना निविड सामाजिक आग्रह मुझे कही अन्यत्र नही दिखाई दिया। माना सर्जक की प्रतिभा और समाज की प्रतिभा एकमेक हो। मानो सर्जक की मनीषा अपने परिवेश की हलचल से एकाकार हो। जसे यदि परिवेश म जडता हो तो सर्जक भी जड हो जाएगा। माना रचना अकेले का आत्मम्लान न हो, केवल अनेक होने का महाभाव हो।

मैंने कहा, कि यह धनात्मक पक्ष है। पर इसके ऋणात्मक पहलू की अनदेखी करना भी उचित नही लगता। रचना क्या केवल इमोशन आव मल्टीच्यूड है ? क्या वह ए लोनली इण्टलक्ट कम्यूनिंग विद गाड भी नही है ? अपनी ही औपन्यासिक सृजनशीलता के प्रति जनेन्द्र जी म जो एक उदासीन और विरक्त सा भाव जहाँ तहाँ व्यक्त होना दिखाई देता है वह क्या है और क्या है ? एक छोर वह है जहा एग्मस कसिल का नायक कहता है — 'ऐज फार लिविंग, अवर सर्वेण्टस विल डू दट फार अस' और दूसरा छोर यह है

जहा पता नही कब कोई पात्र उठके घोषित कर दे कि 'ऐज फॉर राइटिंग, अवर सर्वेण्टस, और फॉर दट मटर ईवन अवर मास्टस विल डू दट फॉर अस।' यहाँ मुझे कामू की एक प्रसिद्ध कहानी याद आ रही है जिसका नायक एक चित्रकार है। वह कई दिना तक कनवास पर झुका रहता है, पर चित्र नही बना पाता, केवल उस पर 'सोलिडेरिटी' लिख देता। कामू भी कमजीवन मे कूदा था। पर वह रचना कम को कमजीवन के साथ उस तरह सरल ढग से नही मिलाता। क्या रचना कम भी विशिष्टि और साथक कम नही है जिसका एवजी कुछ और नही हो सकता ?

यह भी मुझे बडा विचित्र और रोचक लगता है कि विचार और जीवन-दृष्टि के लिहाज से काफी भिन्न होते हुए भी जनेन्द्र और डी एच लारेंस के बीच कम से कम एक मामले म सम्पूर्ण सहमति है। अपनी रचना प्रक्रिया के बारे मे पूछे जाने पर जनेन्द्र जी दो टूक ढग से कहते हैं कि जो कुछ मुझे घोट रहा था उसे कागज पर निकाल कर मैंने स्वास्थ्य लाभ किया।' और डी एच लॉरेंस की भी बिलकुल इसी तरह की स्वीकारोक्ति है 'वन शेड्स वन सिक्नेस इन बुक्स।' सयोग ही कहिए कि लॉरेंस भी ऐसा कवि उपन्यासकार है जो कवि उपन्यासकार के अतिरिक्त चिन्तक भी है। उसकी भी एक आस्था है जो उसके लिए एक मिशनरी ध्येय बन जाती है। उसकी उत्तरकालीन रचनाओ मे यह मिशनरी स्पिरिट एक अतिरिक्त बौखलाहट बनकर उस पर हावी होती चली जाती है। लॉरेंस अशरीरी (प्लेटोनिक) प्रेम का पैदाइशी दुश्मन है, जबकि जनेंद्र मे उसके प्रति खासा खिचाव दीखता है। दशार्क' मे भी रजना से यही कहलवाया गया है कि 'शरीर देना अपने को देने म अन्तत बाधा बन जाता है।' क्या यह सिर्फ प्लटोनिजम है ? जनेन्द्र का प्रेम दशन, जैसा कि हमने ऊपर देखा, ज्ञान और कम से घिरा हुआ प्रेम दशन है और इसलिए उससे अपेक्षा होती है कि वह रोमण्टिक अति की काट खुद ही होगा। वह व्यक्ति की स्वाधीनता को पूरा महत्व देता प्रतीत होता है, पर है पूरी तरह सामाजिक। रजना, मसलन, एक जगह कहती है— जानवर आजाद हैं। इन्सान प्यार से आजाद नही हो सकता। जनेन्द्र जी मानो लीला और मर्यादा को अपनी ही शर्तों पर इकट्ठी चरितार्थ देखना चाहते हैं। क्या यह सभव है ? 'त्यागपत्र' के जनेन्द्र इस प्रश्न के सम्मुख जिस ट्रेजेडी को प्रत्यक्ष देखत हैं, 'दशार्क' के जनेन्द्र उसी प्रश्न को पराकाष्ठा तक ले जाकर भी मानो अपनी आस्था से ही उस ट्रेजेडी की भाड फूक कर देत हैं। फिर लॉरेंस की अतिरिक्तता से इस अतिरिक्तता को कस अलगाया जाय ?

तब क्या यह प्रेम का दर्शन भक्ति मार्ग के समीप है ? भक्ति, जहां माया के ब धन से छूटने और जीवन मे बने रहने की दोनों की गुजाइश है और जहा परम तत्व के साथ भी मानवीय सम्ब ध जोडे जा सकते हैं। जहां रस के माध्यम स ही मुक्ति भी साधी जा सकती है और जो ज्ञान और कर्म की अपेक्षा आदमी की रचनात्मक वत्ति से, उसकी भाव ऊर्जा से भी अधिक आसानी से जुडती है। तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' म गरुड को कागभुसुण्डि के मुख से एक बडी मजे की बात कहलवाई है कि 'भक्ति और माया दोनों ही स्त्री तरह है किंतु भक्ति ईश्वर को माया से अधिक प्रिय है। इसलिए माया अगर डर सकती है तो सिर्फ भक्ति रूपी सौत से। क्या जने द्र जी का प्रेम दर्शन और उसकी रचनात्मक परिणति यही है ? या कि वह कुछ और है, इससे भि न ? निश्चय ही वह भी अद्वैत की ही साधना है एक तरह की। पर किस तरह की ? 'अभेदान द सारी उम्र अद्वत का, प्रेम का ही प्रचार प्रसार करते रह। पर अब पूछ रह है केंद्र के बिना होता भी है किसी का आरम्भ कि प्रसार हो ? अन त तो अन त है वो शू य है पर प्यार शू य को नही जानेगा क्योंकि बिंदु को पहचानेगा।' तो क्या घर ही वह के द्र है — आस्था का के द्र जो बाहर को यानी सारे प्रश्नो और सशयो को पचा सकता है और प्रेम ही वह मध्यस्थ रूपा तरकारी ऊर्जा है जो यह कीमिया करता है ? प्रसाद के स दर्भ म जने द्र जी ने बुद्धि की भी एक विधायक भूमिका पहचानी थी और कहा था कि अपनी परिपक्व परिणति म बुद्धि श्रद्धा तक पहुचाए बिना नही रह सकती। क्या इससे यह निकलता है कि स्वय बुद्धि के विकास मे भी प्रेम का योग आवश्यक है उस परिपक्व परिणति तक पहुचाने के लिए ? और सशय तथा प्रश्नाकुलता भी कही न कही प्रेम के ही अनिवार्य अग है ? वसे भी सशय अगर मोह की उपज है तो प्रेम मे भी मोह की अव स्थाए निहित होती ही है। डी एच लारे स इसके विपरीत, 'इ टलेक्चुअल मच्योरिटी और इमोशनल मैच्योरिटी' को एक दूसरे स पृथक् करता था और ऐसा नही मानता था कि बौद्धिक परिपक्वता अनिवार्य रूप से भाविक परिपक्वता की ओर ले ही जाती है। क्या इसमे लॉरे स का अबुद्धिवादी पूर्वग्रह है ? जने द्र जी भी तो अक्सर बुद्धि को सशय की दृष्टि से देखत रह हैं। तब फिर उसी बुद्धि पर उसी बुद्धि की परिपक्व परिणति पर उनकी यह आस्था कसे जम पाती है कि वह श्रद्धा को निगल नहीं जाएगी बल्कि श्रद्धा तक पहुचाने की सीढी बन जाएगी ? यह प्रश्न कल्पना कीजिए यदि स्वय डी एच लॉरे स — इर्रेशनलिज्म का आधुनिक प्रवक्ता डी एच लॉरे स — उनसे पूछता, तो वे इसका क्या उत्तर देत ?

भारत भवन द्वारा आयोजित जने द्र प्रसग जनवरी ८६ में प्रस्तुत आलेख

समकालिक वास्तविकता और भाषिक सम्प्रेषण

समकालीन वास्तविकता एक बहुत बडा जाल है जिसकी बुनावट म न केवल बीसवी सदी के विज्ञान, राजनीति और दशन की परिवतमान अवस्थायें हैं बल्कि जिसे हम भाषिक सप्रेषण कह रहे हैं, स्वय उसकी भी बहुविध स्थितियाँ — जिनम वास्तविकता को बखानने का दावा करने वाले अनुशासनो की अपनी अपनी स्वय पर्याप्त और विशिष्ट दीक्षागम्य भाषाएँ विकसित हो जाने से लगाकर स्वय भाषा के अवमूल्यन तक की स्थितियाँ भी शामिल है। एक ओर अगर यह सच है कि पूरे ससार की नियति से हम जुड गये है और हर समय चारो दिशाओ से आने वाले बन्धन और मुक्ति के सम्मिलित प्रभावो म जीना ही आज के मनुष्य की विवशता है, तो दूसरी ओर यह भी सच है कि इन सम्मिलित प्रभावो को रचनात्मक मुक्ति के पक्ष म घटित करना ही उसके सामने सबसे बडी चुनौती है। इस चुनौती के सामने आधुनिक मनुष्य का पुरुषाथ जिस तरह अन्तर्विभक्त और दुविधाग्रस्त दीख पडता है, वह अपने आप मे एक रोचक विरोधाभास का दृश्य उपस्थित करता है। विज्ञान और राजनीति जहाँ इस चुनौती से निबटने के लिए स्वय को पूरी तरह पर्याप्त और सक्षम पाते — और बताते हैं, वहाँ, दूसरी ओर साहित्य तथा दूसरी कलाओ का साक्ष्य देखें तो साफ प्रतीत होता है कि समूचे विश्व के स्तर पर आज का आदमी जिस कदर अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो गया है, उतना वह शायद पहले कभी नही था। इस सरासर अन्तर्विरोध से क्या यही नही भलकता कि मुक्ति का — व्यष्टि मानव और समष्टि मानव की मुक्ति का जो अथ साहित्य म बनता है, वह ठीक वही अथ कभी नही होता जो विज्ञान और राजनीति सरीखे अनुशासन और कम उसी मनुष्य के लिए — उसी मनुष्य के सामने परिभाषित करते है।

और क्या इस बारे म सोचते हुए यह भी नही लगता कि ऐसा होना लाजिमी है क्योकि साहित्य — विशेषकर काव्य म — शब्द और अथ का सम्बन्ध जिस धरातल पर घटित होता है वह उस धरातल से बहुत अलग है जिस पर कि दूसरे अनुशासनो मे यह सम्बन्ध चलता है। शब्द और अथ के जिस औत्पत्तिक (नित्य) सम्बन्ध की बात मीमासादशन मे की गई है, क्या सारा कवि-कम

जाने अनजाने उसी स प्रेरित और उसी को चरिताथ करने का उपक्रम नही जान पडता ? और क्या काव्य की इसी प्रकृति, इसी विशेषता मे उसकी विशेष मूल्यवत्ता भी निहित नही है ? वह मूल्यवत्ता जो मनुष्य द्वारा अपने विकास क्रम मे अजित अनेक सभ्यताओ और अनेक अनुशासनो को परस्पर सम्बद्ध और एकजुट रखती है तथा उन्ह अपने मूल स्रोत से भी अविच्छिन्न रूप से जोडे रहती है। शब्द और अथ के नित्य सम्ब ध की यह कल्पना निरी कल्पना है या वास्तविकता ? प्राचीन विवेक ने उस किस धरातल पर स्थापित किया था — काव्यानुभव के जरिए अथवा विशुद्ध तक मीमासा के धरातल पर ? क्या मानवीय ज्ञान और अनुभव के शताब्दियो के विकास क्रम ने उस प्राचीन विवेक को पिछडा अनावश्यक और निष्फल बना दिया है ? यानि नए सिरे से प्रासगिक ? क्या आधुनिक अनुभव और चिंतन से कही उसकी कोई सगति बैठती दीख पडती है ? क्या स्वय आधुनिक अनुभव और चिंतन अपनी एक परिणति तक पहुँचकर स्वय अपने को अतिक्रान्त करने की स्थिति मे नही आ गया है ? ये कुछ प्रश्न हैं जो सहज ही प्रस्तुत विषय के निमित्त स हमारे मन म उठते हैं। भले ही हम उनका यथोचित समाधान न कर पाएँ, उनकी चर्चा करत हुए कुछ सोचने का उपक्रम तो कर ही सकत हैं। यह भी स्वाभाविक जान पडता है कि हमारा यह सोच विचार सरल रखिक न होकर कमोबेश वृत्तानुसारी हो — एक ऐसे वृत्त का अनुसरण करता हुआ जो हमारे लिए पूव और पश्चिम दोनो के अनुभवो को मिलाने से बनता है। क्या आज की दुनिया म हर विषय का वास्तविक वृत्तान्त एव वृत्त ही बन जाने को बाध्य नही ?

यह गौर करने की बात है कि स्वय आधुनिक कवि इस कविकम के बारे म — भाषिक सप्रेषण की इस सर्वोच्च स्थिति तथा वास्तविकता के साथ उसके सम्बन्ध के बारे म क्या सोचता है। जहाँ तक साहित्य म व्यक्त आधुनिकता का सवाल है उसकी देहरी पर ही हम मथ्यू आनाल्ड की उस प्रसिद्ध उक्ति की गूज अभी तक सुनाई द जाती है जो हम बताती है कि आने वाल युगो म कविता की अवश्यम्भावी नियति यही है कि वह उस मानवमात्र को जोडने वाली और जीवन को अथ प्रदान करने वाली भूमिका का निवाह कर जो कि अब तक धम निबाहता आया था और जिसे अब विज्ञान न (धम को पदच्युत करते हुए) असभव बना दिया है। यह अकारण नही है कि उन्नीसवी सदी के इस सस्कृति चिंतक और कल्चर हीरो का इस बीसवी सदी के उत्तराध के बुद्धिजीवी फिर स अपने लिए प्रासगिक पा रहे हैं। ऐसे बुद्धिजीवी जिन्ह

कलावादी अथवा रोमण्टिक उनके दुश्मन भी नहीं मान पाते। इसका क्या रहस्य है?

और इसका भी अंततः क्या रहस्य है कि साहित्य में मैथ्यू आर्नाल्ड का घोषित शत्रु टी एस एलियट जहां एक ओर टी ई ह्यूल्मे के साथ सहमत होते हुए यह मानता है कि अंततः जीवन और जगत के बारे में धार्मिक (और निराशावादी) दृष्टि ही यथार्थवादी दृष्टि है, मानववादी धारणाएँ तो अवास्तविक और असत्य हैं वहीं वह काव्य की सबसे विशिष्ट विभूति — 'आडिटरी इमजिनेशन' (श्रुति कल्पना) की महिमा का बखान यह कहते हुए करता है कि 'कवि कर्म में निहित यह श्रुति कल्पना ही है जो हमारी चेतना के नितान्त आदिम और नितान्त आधुनिक स्तरों को एक साथ झंकृत कर सकती है।' क्या इस प्रतीति में आधुनिक जीवनानुभूति के बीचोबीच शब्द और अर्थ की उसी बुनियादी और जादुई एकता के स्मरण और आवाहन का ही उपक्रम नहीं सूचित होता? इसी प्रकार मालार्मे और यीट्स जैसे आधुनिक युग की संशयात्मा से आर-पार बिंधे कवियों का विनाश द्वारा अपदस्थ धार्मिकता के 'जादुई' तथा रहस्य वाले पक्ष के प्रति रुझान क्या जताता है? एक आलोचक के मतानुसार एलियट को विद्यार्थी जीवन के दौरान मीमांसादर्शन के उस शब्द और अर्थ के औत्पत्तिक सम्बन्ध वाले सिद्धान्त ने विशेष रूप से प्रभावित किया था। पर इस संयोग को हम निरे संयोग से अधिक महत्व न भी देना चाहें तो भी — ठेठ नृतत्त्वशास्त्रीय और सांस्कृतिक तर्क से भी — आधुनिक कवि के अनुभव का यह अन्तःसाक्ष्य कोई कम मूल्यवान् नहीं ठहरेगा।

विडम्बना मगर यह है कि इस धार्मिक संवेदना की मानवीय पहुंच तथाकथित मानववादी संवेदना की पहुंच से भी कम दिखाई देती है। एलियट की अन्तर्राष्ट्रीय आधुनिकता अंततः 'समूचे यूरोप को आत्मसात् करके ढालने तक ही सिमट जाती है और यह यूरोप भी अंततः ईसाई यूरोप ही निकलता है, उसकी प्राक् ईसाई और पगन जड़ों के साथ एलियट का वैसा रिश्ता कहाँ है जैसा कि ग्योएटे का — यहाँ तक कि मैथ्यू आर्नाल्ड का तक — निश्चय ही है। यह धार्मिकता की सीमा है अथवा आधुनिकता की? कलावाद या मानववाद सरीखी अवधारणाएँ भारतीय चिंतन की शब्दावली में कैसी लगेंगी? ऐसा क्या है कि साम्राज्यवादी किपलिंग की रचनाओं का भारतवर्ष उदार मानववादी फॉर्स्टर के भारत की अपेक्षा कहीं अधिक प्रत्यक्ष सजीव है? अगर यह सच है कि मनुष्य की मनुष्यता मूलतः उसकी सृजनशीलता में है और इस सृजनशीलता की असली अभिव्यक्ति मूल्यों की सृष्टि में है तो इन मूल्यों का स्थायी सन्दर्भ किसे माना जाय? मनुष्य की मानव केन्द्रित, मानव-सीमित दृष्टि में अथवा

सृष्टि और मनुष्य के सजातीय सम्ब ध तथा शब्द और अथ क नित्य-सम्ब ध म ? सभ्यता के विकास क्रम तथा इस नित्य सम्ब ध के बीच क्या कोई बुनियादी सगति दीख पडती है या कि बुनियादी विसगति ? क्या ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्य की सजनात्मक चेष्टाओ का एक हिस्सा (मसलन प्राथना या कवि कम) तो शब्द और अथ के इस नित्य सम्ब ध को टोहने-पकडने की कोशिश करता है और दूसरा अपेक्षाकृत विस्तृत हिस्सा शब्द और अथ के उस सम्ब ध से निकलता है जो नित्य नही, नमित्तिक है, स्थितिशील नही, प्रयोगशील है ? भाषा चूकि वस्तु जगत को ही नही, अपन आपको भी पहचानने का साधन है, अतएव वही मूल्यो की सृष्टि को भी सभव बनाती है । य मूल्य सौ दर्यात्मक, नैतिक और वीरोचित भी हो सकते हैं और इनकी प्रेरणा मानवीय होते हुए भी मानव-सीमाओ का अतिक्रमण करने वाली भी हो सकती है। शब्द और अथ का सम्ब ध नित्य हो सकता है, शायद है भी, कि तु भाषा और अथ का सम्ब ध अनित्य ही हो सकता है भले ही उस अनित्य सम्ब ध म कभी-कभार नित्य की कौंध उसी तरह अकस्मात प्रकट हो जाए जिस तरह वाक्य के वि यास के बीच एक शब्द कौंध जाता है और गद्य के बीचोबीच काव्य झलक आता है । भाषा के स्वभाव अथवा विकास म ही यह अ तर्विरोध निहित है कि वह जितना जोडने वाली है उतना ही अलगाने वाली भी । एक ओर जहाँ भाषा एक विशिष्ट सस्कृति के अ तर्गत पूरे समाज को जोडती मिलाती है, वही वह उस पूरे समाज को दूसरी सस्कृतियो के दूसरे समाजो से अलग भी करती है । कि तु इसके साथ साथ यह भी गौरतलब है कि जिस भाषा म किसी प्राचीन भाषा के सस्कार को अथवा आदिम सस्कार को झकृत करने की जितनी ही ताकत होती है, उस भाषा मे मनुष्य की अतरात्मा को स्पश करने की और व्यापक मानव समाज को भी छू सकने की उतनी ही सामथ्य होती है । भाषा की यह स्थिति क्या कुछ कुछ धम की स्थिति स नही मिलती जुलती ? आखिर क्या कारण है कि इतिहास क्रम मे जो धम जितना ही युवा है, वह उतना ही कट्टर और प्रतिक्रियावादी सिद्ध हुआ है ? क्या इससे यह विचित्र निष्कष निकाला जाय कि मनुष्य की प्रकृति मे ही एक अ तर्विरोध मौजूद है कि मनुष्य की मनुष्यता के धार्मिक और कलात्मक आयामो के विकास का तक आर्थिक और राजनीतिक मनुष्य के विकास के तक स अलग और विपरीत दिशा मे काम करता है । क्या व्यष्टि और समष्टि के बीच एक अनिवाय विरोध और द्व द्व अनिवाय है ? क्या कोई जीवन दशन ऐसा हो सकता है जो इन विपरीतगामी प्रक्रियाओ के बीच सामजस्य स्थापित कर सके ? वह जीवन का दशन होगा या जीवन मुक्ति का ? क्या जीवन की अद्वतवादी व्यवस्था उन

सारे अन्तर्विरोधों और घपला से मुक्त हो सकती है जो द्वैत के स्वीकार पर खडी सभ्यताओं मे पाए जाते हैं ? क्या उसमे भी अपने ढग के घपले और दूसरी तरह के अन्याय नही होंगे ? मूलत अद्वैतमूलक दृष्टि मे भी क्या मनुष्य के ऐहिक और पारमार्थिक जीवन के लिए दोहरे मानदण्डों की व्यवस्था नही चलती रहेगी ? क्या पारमार्थिक अद्वैत के लिए अपनी तक सगति को जीवन के स्थूलतम धरातल पर प्रतिष्ठित करना अनिवार्य नही हो जाता ? मोक्ष केन्द्रित चिंतन को अपनी जीवनी शक्ति सिद्ध करने के लिए अथवा अपनी मानवीय उपयोगिता सिद्ध करने के लिए अर्थ और काम के क्षेत्र म भी उसी अनिवार्यता के साथ प्रवृत्त नही होना पडेगा ? तब फिर उस दशा म आर्थिक और राजनीतिक मनुष्य के लिए भी धार्मिक और दार्शनिक मनुष्य की तरह उसी कोटि और उसी उत्कटता के सत्याग्रह के सिवा और विकल्प ही क्या बचेगा ?

अपने-अपने जातीय अनुभवों के बल पर ससार के विविध मानव-समूह अभी हाल तक अपना सास्कृतिक जीवन कमोबेश धम बुद्धि के साथ स्वयपर्याप्त ढग से चलाते रह । परन्तु सौन्दय-बुद्धि और न्याय-बुद्धि के बीच, प्रेम बुद्धि और पुरुषाथ-बुद्धि के बीच वास्तविक सामजस्य स्थापित करने की सबसे बडी चुनौती तो अब जाकर पेश हुई है जब मानव समाजों की यह अलग थलग स्वयपर्याप्तता एक विराट अन्तर्निभरता के अनिवाय तक के सम्मुख रूपान्तरित होने को या बिखर जाने को लाचार सी दिखाई दे रही है । आधुनिक जगत मे विज्ञान और राजनीति के अभूतपूव विस्फोटों के फलस्वरूप इन विविध समाजों के बीच चाहे अनचाहे जो परस्पर घाल मेल की प्रक्रिया तेजी से चल पडी है, उसस उन उन समाजों के परम्परागत मूल्यों मे काफी उलट-फेर हुई है और इस कारण भी भाषिक सप्रेषण के क्षेत्र मे खासी हलचल मची है । इस अराजकता को रचना-सम्भव बनाए रखने के लिए यह तक उपस्थित किया गया कि आधुनिकता स्वय मूल्य नही, बल्कि मूल्य के प्रति एक दृष्टि है । काफी दूर तक यह तक रचना सभव बने रहकर चला भी । पर अब इस तथाकथित मूल्यनिरपेक्ष वज्ञानिक दृष्टि की सीमाएँ न केवल दाशनिकों और कलाकारों के लिए, बल्कि स्वय वैज्ञानिकों के सामने भी क्रमश स्पष्ट हो चली हैं और उसके रचनात्मक दावे भी उसी अनुपात मे सिकुडते चले गए हैं । वह दौर भी बीत चला है और यह अनुभव किया जाने लगा है कि मूल्य के प्रति भी वही दृष्टि मूल्यवान हो सकती है जो स्वय मूल्य दृष्टि या मूल्य खोजी दृष्टि हो । नही तो विसगतियों और विरोधाभासों से भिडते हुए किसी गहरे बुनियादी स्तर पर सगति बिठालने की चुनौती चुनौती ही रह जाएगी और दुनिया के छोटे होत जाने

तथा मनुष्य का ही अवमूल्यन होते जाने के बीच सीधा समानुपात स्थापित हो जाने म जो थोड़ी बहुत कसर बाकी रह गई है, वह भी न रह जाएगी।

यदि हम यह मानें कि सच्ची अतराष्ट्रीयता और कोरमकोर आधुनिकता ही आज की वास्तविकता म निकलने वाले मूल्य हैं ता उनकी प्रतिष्ठा भी अतत सच्ची सवमा य भाषा के आधार पर ही तो होगी। यह कहाँ से आएगी ? क्या वह एस्परेण्टो की तरह गढ ली जा सकती है ? इसी तरह मूल्या के बार म भी इस रामानी भ्रम से छुटकारा पाना आवश्यक लगन लगा है कि उ ह खोजा नही गढा जाना है। साहित्यक शोध भी लगभग इसी निष्कष पर पहुँचा है कि आधुनिकतावादी आ दोलन अपनी तमाम गर रोमाण्टिक प्रतिज्ञाओ के बावजूद उन्नीसवी सदी के रोमण्टिक आन्दोलन का ही एक और प्रस्फुटन था। निश्चय ही इस तथ्य स उसकी धनात्मक उपलब्धियाँ कम नही हो जाती कि तु जो असली बात ध्यान देन की है वह यह है कि इधर यूरोप के विचारको म अपनी सभ्यता के इतिहास चक्र के — विशेषकर रेनसाँ और रोमण्टिक युगो क निमम पुनमूल्याकन की प्रवति जोरा पर है। मसलन, इसाया बर्लिन ने ही जसे, यह अत्य त विचारोत्तेजक स्थापना की है कि रोमण्टिसिज्म ही इस खतरनाक गोकि ऊपर से बडी निर्दोष और रमणीक लगने वाली धारणा के लिए जिम्मेदार है कि मनुष्य का काम मूल्या की खोज करना न होकर उ ह गढना या " वेण्ट करना है वे इस रामण्टिक विश्वास का मानव जाति के लिए अत्य त दुभाग्यपूण मानत है कि आदमी अपने जीवन को स्वय गढने के लिए स्वत त्र है कि हीं शाश्वत प्रतिमाना की पहचान अथवा अनुकरण उसका धम नही है। इसाया बर्लिन ही क्यो और भी दूसरे कई विचारका के अनुसार यह रोमण्टिक विचार यथाथवाद और वस्तुवाद पर ही नही, स्वय अनेका तिक सत्य पर ऐसा हमला था, जिसके दूरगामी दुष्परिणाम हुए — ऐस दुष्परिणाम, जिनसे तत्काल उबरने की फिलहाल कोई सभावना नजर नही आती। कि तु मुझे ऐसा लगता है कि यूरोप के अग्रगामी दाशनिक चितन म वास्तविकता से इसी रोमण्टिक विचलन को ठीक करने का उपक्रम किया जा रहा है। उदाहरण के लिए विटग स्टाइन के यहा ही — जो कि, रसेल और हार्डी के इन दावा का खण्डन कर देता है कि एक गणितज्ञ वास्तव मे यथाथ के गणितीय रूप की खोज अथवा साक्षात्कार करता है। विटगे स्टाइन कम से कम गणितज्ञ का यह श्रेय देने को तयार नही है। उसका स्पष्ट अभिमत यह है कि गणितज्ञ भी वस्तुत एक इ वेण्टर ही है खोजी (सत्य की खोज करने वाला) नहो।

तब फिर समकालीन वास्तविकता के सम्मुख भाषिक सप्रेषण के क्षेत्र म यह जो 'पोस्ट मॉडर्निस्ट फेज चल रहा है उसका स्वरूप क्या है ? या कि क्या होना चाहिए — विशेषकर एतद्देशीय स दभ म । आधुनिकता और वज्ञानिक दृष्टि के उत्साह म हम बात जरूर अ तराष्टीय मानदण्डा की करते है पर व्यवहार म, वास्तव म होता यह है कि खेल के नियम तक तथाकथित विकसित राष्ट्रा के हित मे ही बदलते चले जाते हैं । जब हाकी जसे खेल का यह हाल है, तब फिर जो उच्चतर बौद्धिक खेल ह — कला साहित्य और विज्ञान आदि के — उन्ही म कसे अपने आप समता और स्वतत्रता का न्याय स्थापित हो जाएगा ? विकसित राष्ट्रा के मूल्य जरूरी नहा कि सास्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी विकसित मूल्य हा ही । इसका ठीक उलटा भी हो सकता है ।

विकसित देशो के बुद्धिजीवी अपनी आधुनिक सभ्यता के दूषणो को जल्दी पहचान लते हैं । वे अपनी ही उपजाई चीजा तथा उनसे उत्पन्न बन्धना को साफ-साफ देख पाते है । इसलिए कि सकट भी सबस पहल उन्ही पर आता है । इसके विपरीत विकासशील देश उम सकट को नही, उन नियामतो को ही देखते है और जब उन्ही के भीतर का कोई दूरदर्शी दोना प्रकार की सभ्यताओ से अपने घनिष्ठ परिचय के आधार पर इस आधुनिक सभ्यता की तह म पठकर उसकी मूल प्रेरणा को पहचान कर उसम निहित असत्य का उद्घाटन करत हुए, अपने देशवासिया को ही नहीं, अपितु, समूचे मानव समाज को चेतावनी देने की जरूरत महसूस करता है, ता देखने म आया है कि स्वय उसी का समाज — बुद्धिजीवी समाज — उस अनसुना कर दता ह । चूकि आधुनिक सभ्यता के उदय और विकास की प्रक्रिया म इन औपनिवेशिक बुद्धिजीवियो का उस तरह कोई योगदान नही है अत वे उस विकास की शर्तों को अथवा उसकी सास्कृतिक आध्यात्मिक परिणतियो को उस तरह देख ही नही पाते जिस तरह कि वे देख पाते हैं जिन्होने उस उपजाया है — या उसकी कीमत चुकाई है ।

आचार्य कृपलानी न अपनी महात्मा गाधी शीर्षक पुस्तक म एक जगह लिखा कि 'भारत म सभी वचारिक व्यवहार नकली सिक्का के द्वारा चलाया जाता है जिनकी वस्तुत कोई कीमत होती नही । इस आरोप को हम महज एक गाँधीवादी अत्युक्ति कहकर खारिज भी नही कर सकत क्योकि हमारा समकालीन बुद्धिजीवन अनुवादजीवी हो गया है इसकी चिन्ता दूसर हलका में भी अक्सर की ही जाती रही है । कवि विचारक अज्ञेय ने भी लगभग यही बात अपने ढग से उठाई है । उन्ही के शब्दा म 'आधुनिकीकरण के लिए अनुवाद

कभी उपाय नहीं हो सकता। हम आधुनिक होना है तो आधुनिक सभ्यता के मूल तक हम पहुंचना होगा। अनुवाद की समस्या वहाँ है जहाँ हम अपनी संस्कृति म विश्वास खोकर एक दूसरी संस्कृति के सामने हीन भाव स आते हैं और उससे जो कुछ मिलता है उसको एक छाते की तरह ओढ़कर समझ लेते हैं कि हम उसके अंग हो गए। हम हमेशा जो दूसरे का है उसका पर्याय खोजते हैं। भूल जाते हैं हमारी भी बहुत सी ऐसी पूंजी है जिसका कोई पर्याय दूसरी संस्कृति के पास नहीं होगा अगर वह अनुवाद करने चले।'

तो समकालीन वास्तविकता — कम से कम इस देश की — एक यह भी है, जिसकी ओर ध्यान जाता ही है और जो स्वयं वास्तविकता को देख सकने की हमारी क्षमता को कुण्ठित करने वाली चीज़ है। एक दूसरी बात भी विचारणीय है और वह यह कि जहाँ पश्चिम का आधुनिकतम चिंतन और साहित्य अपनी नष्ट करके निर्माण करने की परम्परा के बावजूद अपने अतीत चिंतन की शब्दावली और अवधारणाओं के साथ एक अनवरत लचीला और गतिशील सम्बन्ध बनाए रख सका है, वहाँ भारत का बुद्धिजीवी समाज अपने ही अतीत के प्रति एक पराएपन के भाव स ग्रस्त है जबकि भारतीय परम्परा के बारे म कहा जाता है कि वह नष्ट करके निर्माण करने की नहीं, बल्कि समन्वयात्मक परम्परा रही है। समन्वय का मतलब ही यह है कि उसमे शुद्ध तक की दृष्टि से परस्पर विरोधी लगने वाले विचारों का संगम होता है। निश्चय ही वास्तविक जीवन की चुनौतियों स सफलतापूर्वक निपटने की प्रक्रिया ही किसी परम्परा का जन्म देती है पर यह भी तो उतना ही सही है कि उस परम्परा को भी बार बार अपनी कसौटी पर कसना पड़ता है और उसका रूपान्तरण भी होते चलना लाज़िमी है अन्यथा बने बनाए समाधानों मे ही संतुष्ट हो रहने की, बिना किसी बौद्धिक ग्लानि के यथास्थिति का ही संवेदनहीन संरक्षण किए जाने की आदत पड़ जाती है। साथ ही एक लाइलाज किस्म के ढुलमुलपन और बौद्धिक अराजकता को भी जाने अनजाने बढ़ावा मिलता रहता है। संस्कार और संवेदन के बीच जीवन्त क्रिया प्रतिक्रिया का सम्बन्ध ही जब टूट जाता है। ऐसे म एक चुनौती भरे वर्तमान का साहसपूर्वक सामना करने और रचनात्मक आत्मालोचन की जोखिम उठाने की जगह कालगति से पिछड़ जाने की हड़बड़ी मे जल्दी जल्दी छलांग लगाने की आतुरता दिखाई दे और अपनी ही परम्परा स अलगाव पैदा हो जाए तो यह अचरज की बात क्या हो? हो सकता है, यह पराएपन और अलगाव की भावना, उस मोहमुग्ध चकाचौंध का ही उलटा पहलू हो जो पिछली सदी के पुनर्जागरण ने हमारे भीतर पैदा की थी। जो भी हो, हम इस प्रश्न का सामना करना ही

पडेगा कि क्यो हम अपनी विरासत का निर्भ्रान्त और आत्मविश्वासपूर्ण उपयोग करने की स्थिति मे स्वय को नही पाते ?

•

भारतीय जीवन दृष्टि और साहित्य दृष्टि मानववादी है कि चराचरवादी ? वह कलावादी है कि समाजवादी ? भारतीय साहित्य और दर्शन ही नही, साहित्य शास्त्रो का अध्ययन करने के दौरान क्या बहुत सारे चालू वर्गीकरण अपर्याप्त और अनगल से नही लगने लगते ? साहित्य को 'सभी प्रकार की विद्यारूपी परिषदो का सदस्य' (भोजराज शृङ्गार प्रकाश) मानने मे अत्याधुनिक विवेचक को भी क्या आपत्ति हो सकती है ? भामह को कविता की सब कुछ पचा सकने वाली शक्ति पर तथा कवि की भारोत्तोलन शक्ति पर जो आश्चर्य हुआ था—

> न स शब्दो न तद्वाच्य न स न्यायो न सा कला
>
> जायते य न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवे

काव्यालकार 5, 4

क्या बीसवी सदी के महानतम् कवियो की सदम बहुल रचनाओ से गुजरते हुए खुद हमारा मन भी उसकी गवाही नही देता ?

वास्तविकता से हमारा क्या अभिप्राय है ? क्या वह विषयिनिरपेक्ष 'परम सत्' है जिसका अनुभव तो सम्भव है, पर वर्णन नही ? (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह) मगर तब फिर हमारे दर्शन के आदिकाल मे ही वाक्-शक्ति की इतनी महिमा क्यो बखानी गई है ? ईश्वर को ही वास्तविक कवि और जगत् को उसका काव्य क्या कहा गया ? चेतना की जो स्वरूपगत सांकेतिक शक्ति है — अर्थग्रहण करने की तथा अपने को अभिव्यक्त करने की — उसी को तो वाक् शक्ति का नाम दिया गया। अपनी बीइग एण्ड टाइम नामक पुस्तक मे बीसवी सदी का दार्शनिक हाइडेगर भी तो मानवीय अस्तित्व के जरिये ही उस परम सत् (बीइग) तक पहुँचने का मार्ग ढूढता दिखाई देता है। हा उसका तर्क अवश्य अस्तित्ववादी है, जिसके अनुसार 'मानव मे ही परम सत् का वास हो सकता है क्योकि मानव ने ही स्वय को सत् (या सत्ता, 'बीइग') के प्रति इस प्रकार खोला है कि वह 'सत' उसमे प्रविष्ट हो सकता है। यह अकारण नही है कि हाइडेग्गर भाषिक सप्रेषण की सर्वोच्च अवस्था के रूप मे ही नही सत के अधिष्ठान के रूप मे भी काव्य को परमकोटि का महत्व देता है। काव्य, उस के अनुसार "शब्द के माध्यम से 'बीइग' की प्रतिष्ठा है।" इतना ही नही, आगे चलकर वह स्पष्ट रूप से यह भी घोषित करता है कि 'कवि की प्रामाणिकता दार्शनिक की प्रामाणिकता से किसी प्रकार

कम नहीं बल्कि कुछ बढ़कर ही है। बल्कि वस्तुतः एक दार्शनिक के लिए प्लेटो के डायलाग्ज नहीं पारमनाइडीज की कविता ही अनुकरणीय आदर्श है।'

देखा जाय तो हाइडेग्गर का असली सरोकार कविताई से नहीं शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध वाली उस विशेष भूमि से है जहां से उच्च कोटि का काव्य जन्म लेता है और जो दार्शनिक को भी अपने ढंग से इष्ट होता ही है। यह भी कहा सकता है कि हाइडेग्गर भी अपनी अन्तर्दृष्टि से उसी शक्ति का संकेत पा रहा है जिसे हमारे यहां पश्यन्ती वाक् के नाम से अभिहित किया गया है। जिस तरह विटगेन्स्टाइन की चिंता के केन्द्र में रोजमर्रा के व्यवहार में आने वाले सामान्य वाक्य हैं उसी तरह हाइडग्गर के चिंतन की अग्रभूमि में यह 'वाक' अथवा शब्द है। एक और विचारोत्तेजक बात यूनानी भाषा के प्रति हाइडग्गर का दृष्टिकोण है। उसके अनुसार 'यह यूनानी भाषा हमें अपनी जड़ों के भीतर ले जाती है। वह अन्य यूरोपीय भाषाओं की भांति महज एक भाषा ही नहीं है। समस्त भाषाओं में वही और एकमात्र वही साक्षात् 'लागोस' (ज्ञान अथवा कह लें— शब्दब्रह्म) है। यही नहीं, संस्कृत को देववाणी कहने के पीछे जिस तरह की प्रेरणा रही होगी—लगभग वैसे ही मंत्रमुग्ध और आविष्ट स्वर में हाइडेग्गर भी हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि प्राचीन ग्रीक भाषा ही वह भाषा है जिसमें परम सत्ता हमसे संवाद करती है।

समकालीन जगत् में मानव की—और स्वयं दर्शन की जो हालत है उसे देखते हुए हाइडग्गर की ये बातें एकबारगी चकरा देने वाली लग सकती हैं। किन्तु हमारे अपने एक तुलनीय सन्दर्भ में यदि हम आनन्दकुमार स्वामी के कृतित्व का स्मरण करें तो क्या ऐसा नहीं लगता कि यह "व्युत्पत्तिमूलक" शैली—यह अपनी जड़ों को खोजती हुई मूलगामी चिंतन पद्धति—भी कहीं न कहीं हमारी समकालीन वास्तविकता का ही एक प्रमुख लक्षण यानि अंग होनी चाहिए? यह ध्यान देने की बात है कि विचार — हाइडग्गर के अनुसार—धारणामूलक नहीं होता वह तो एक विशेष प्रकार का श्रवण है रेवरेंशियल लिसनिंग है। इस तरह देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि सत्य और श्रुति का समीकरण देश और काल दोनों ही दृष्टियों में दो नितान्त भिन्न संस्कृतियों और दार्शनिक परंपराओं को एक दूसरे के करीब ले आता प्रतीत होता है और इस उभयनिष्ठ तथ्य को रेखांकित करता है कि दार्शनिक जिज्ञासा का प्रारंभ वाक् शक्ति के अनुभव से—सृष्टि की शब्दमूलकता की प्रतीति में ही जुड़ा हुआ है और फिलासफी बिगिन्स इन वंडर (आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् शृणोति) वाली बात यूं ही नहीं

है। हाइडेगर सरीखे दार्शनिको का ही नही, उनके समकालीन आधुनिक कवियों का साक्ष्य भी वाणी की इस प्रकृति को झलकाता है जैसा कि टी' एस एलियट का उल्लेख करते हुए हमने देखा था। आधुनिक हिन्दी कवि की भी स्वीकारोक्ति है कवि हू/कहना सब सुनना है स्वर केवल सन्नाटा (अज्ञेय) एलियट का परवर्ती कवि डब्लू एच आडेन भी एक जगह कहता है—'कोई कवि यश प्रार्थी कवि है या नही इसे जाचने की मेरे पास एक ही कसौटी है। यदि वह मुझसे यह कहता है कि मेरे पास कुछ महत्व की बातें हैं जिन्ह कहने के लिए मैं कविता करता हू, तो मुझे उसके कवित्व पर सन्देह हो जाता है। किन्तु यदि वह कहता है कि मैं तो शब्द का पीछा करता हू— शब्द पर कान लगाकर उसकी बात सुनने की कोशिश करता हू, तो मुझे यकीन हो जाता है कि हाँ, यह आदमी जरूर कवि बन सकता है।'

मैंने कहा कि यह विषय ही कुछ ऐसा है जो हमे अपनी परिक्रमा करने को विवश किये दे रहा है। यह भी, कि मेरे लिए यह यत्न उस समकालीन वास्तविकता का है जो पूर्व और पश्चिम की भरपूर टकराहट से बनता है। जिस निमित्त, जिस अवसर पर ये बातें मन मे उठ रही हैं, उसे देखते हुए भी —मुझे उम्मीद करनी चाहिए कि—यह चर्चा बहुत अनगल या बेमेल नही लगेगी। निश्चय ही यह मानने मे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है कि आधुनिकता का अर्थ केवल भौतिक उन्नति स नही, आदमी की चेतना के विस्तार से भी जुडा हुआ है और मार्क्स फायड तथा आइन्स्टाइन सरीखे मनीषियो न इस विस्तार म अपना निश्चित योग दिया ही है यह भी, कि उनके विचार सार्वभौमिक ही प्रतीत होते है, एकदेशीय अथवा एकपक्षीय नहीं। परन्तु इसके साथ ही साथ क्या यह भी सच नही है कि इन सार्वभौम विचारो के बावजूद इस समय समूचे विश्व मे जो उथल पुथल चल रही है, वह एक नए और आधुनिकतावादी दौर से भिन्न सतुलन की माँग कर रही है जिसे जन्म देने म इस देश की दबी घुटी और अन्त विभाजित मगर अपने ढँग से सत्याग्रही चेतना भी इस शताब्दी की शुरूआत से ही कुछ न कुछ सक्रिय देखी ही जा सकती है। पश्चिमी मानस के अन्तर्द्वन्द्व को भी इसी जमीन पर परखना अनिवार्य लगने लगता है विशेषकर दर्शन के क्षेत्र मे—जहाँ विचारो का सार्वभौमिक मूल्य सबसे कम सदिग्ध माना जाता रहा है। यह नहीं कि हमारे मन म अस्तित्ववादी विचारधाराओ के प्रति कोई विशेष पक्षपात हो। पक्षपात तो दार्शनिक चिंतन मात्र का होना चाहिए—समकालीन दर्शन के मुख्य सरोकारो के प्रति ही—निर्मम न सही मानव नियति का नक्शा—मानवीय मेधा का पुरुषार्थ तो प्रतिबिम्बित होता ही है। और इस लिहाज से—प्रस्तुत

विषय के सन्दर्भ में भी—हमारे लिए जितना हाइडेग्गर कीर्केगार्द और सार्त्र मननीय हैं, उससे कम विटगेंसटाइन और उनके सम्प्रदाय का सामान्य भाषामूलक दर्शन नहीं। अस्तित्ववादियों की चर्चा का औचित्य शायद यह भी हो कि उनके यहाँ वास्तविकता के दर्शन और उसके भाषिक संप्रेषण के बीच कुछ कुछ उस तरह का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ है, जैसा कि साहित्य में—विशेषकर आधुनिक साहित्य में देखा जाता है। विचार और उसके रूपाकार के बीच—शब्द और अर्थ के बीच—एक विशिष्ट प्रकार के द्वन्द्व और एक विशिष्ट प्रकार के अद्वैत की स्थिति भी उनके यहाँ लक्ष्य की जा सकती है। हाइडेग्गर का उल्लेख हमने ऊपर किया ही है। कीर्केगार्द का दर्शन उसकी खास विधा जर्नल्स के ज़रिए ही प्रकट हो सकता था और सार्त्र तो 'साहित्यिक' है ही। बल्कि कहना होगा कि वह दार्शनिकों के बीच अपनी इसी साहित्यिकता को लेकर खासा बदनाम भी रहा है। *अलावे इसके, आधुनिक भारतीय* साहित्य के भी एक खासे संवेदनशील अंश पर अस्तित्ववादी विचारणा का खासा प्रभाव बताया जाता है। इस समान संवेदन की कोई वजह, कोई पीठिका तो होनी चाहिए। वह क्या है?

समकालीन वास्तविकता चूँकि विज्ञान और राजनीति से सबसे अधिक प्रभावित दीखती है अतः यह प्रश्न भी उठता ही है कि स्वयं दार्शनिकों और कवियों कलाकारों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में क्या है? यह एक रोचक प्रश्न है और भारतीय तथा यूरोपीय साहित्य की तुलना की दृष्टि से भी इसके उत्तर की खोज बड़ी ही दिलचस्प होगी पर उसका यहाँ अवकाश नहीं है। इतना संकेत काफी होगा कि जहाँ तक कवियों लेखकों का प्रश्न है, अपने यूरोपीय बिरादरों की तुलना में आधुनिक भारतीय लेखकों का रुख दोनों ही मामलों में—शायद अधिक स्वीकार भाव वाला, अधिक पॉजिटिव प्रतीत होता है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि उधर वाले अतिपरिचय के कारण दोनों से ऊबे हुए हैं जबकि हम नएपन के कारण उनमें अभी भी रचनात्मक संभावनाएँ दीखती हैं। दूसरा—और शायद अधिक गहरा कारण यह हो, कि पश्चिम की परम्परा में साहित्य की स्थिति और गति विज्ञान और धर्म राजनीति दोनों से विविक्त एक स्वायत्त अनुशासन की तरह रही है जबकि हमारे यहाँ वैसे विशेषीकरण की नौबत कम ही—शायद अब भी नहीं आई है। ज्यादातर लेखक विज्ञान से आतंकित नहीं दीखते वे भी नहीं, जो उसके प्रति उदासीन हैं। जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है भारतीय लेखक की दुविधा और अन्तर्द्वन्द्व आज भी इस दिलचस्प सूक्ति में व्यक्त प्रतीत होते हैं कि 'अंग्रेजों ने अक्ल दी, पर गूँगा बनाकर छोड़ा, गाँधी ने हमें वाणी दी पर अक्ल छीन ली'

भी प्रकार के सांस्कृतिक मूल्य नजर आते हैं। उसने मतानुसार 'विज्ञान एक तकनीकी और कामकाजी चीज है। आत्मा का जानन या जगान की दिशा म उससे किसी तरह की मदद या प्रेरणा नही मिल सकती। बल्कि हकीकत तो यह है कि जो आध्यात्मिक अनुसधान म असमथ होते हैं, वे ही विनान की आर प्रवृत्त होते हैं।'

हाँ काल यास्पस अलबत्ता जरूर विनान को इतना हेय नही समभता वह इस सभावना के लिए थोडी बहुत गु जाइश रखके चलता है कि सत् के नान की दिशा म विनान भी शायद कभी कोई मूल्यवान सकेत उभार सके। जहाँ तक सात्र की बात है सात्र विनान को एक तरह की ऋणात्मक स्वीकृति सिफ इसी आधार पर देता है कि आत्मपरकता की दलदल से बचने के लिए उस नग्न अकिंचन चेतना की अवधारणा को सुरक्षित रखना अनिवाय है जो एक वज्ञानिक के पास सहज ही और सदव होती है।' अर्थात् असत् होने की मात्र दशक होने की चेतना। निश्चय ही यह एक दृष्टि तो है पर मूल्य दृष्टि नही। देकार्ते का यह उत्तराधिकारी एक ओर तो शुद्ध चत य की बात करता है और उसमे चरम स्वतन्त्रता के मूल्य का दावा पेश करता है और दूसरी तरफ हमारे रोजमर्रा के स्व' को खडा करता है जो उसके मुताबिक मेरे कारण नही दूसरो के कारण बनता है। इस द्वत की तुलना सांख्य के प्रकृति और पुरुष से की जा सकती है पर सात्र की चरम स्वाधीनता उस तरह मुक्ति का दर्शन नही है क्योकि उसमे अनासक्ति के विचार को कोई स्थान नही है। उसका कहना है कि 'दूसरे लोग या वस्तुएँ यदि मेरी स्वाधीनता के रास्ते म बाधक हैं तो इसका मतलब यह नही कि मेरी स्वाधीनता सीमित है। मुझे तो बस अपने उद्देश्यो की पुनरचना भर करनी है। इन रोडो को हटाने के लिए मैं सदा सवथा स्वतन्त्र हू।

सात्र का ही समकालीन विचारक मार्लें पाँते उन्नीसवीं सदी के नियतिवाद और इस सार्त्रीय चरम स्वाधीनतावाद के बीच एक रास्ता निकालने की कोशिश करता है। उसके अनुसार मनुष्य न तो पूरी तरह ब धनो म जकडा हुआ है और न सार्त्रीय अथ म पूरी तरह आजाद है। इसमे कोई स देह नही कि हम एक सामाजिक परिस्थिति म ही ज म लेत हैं मावसवादी ठीक कहत हैं कि सामाजिक प्राणिया के रूप म हमारी जो अवस्थिति है, वह काफी हद तक हमारे काय को निर्धारित करती ह और हम अपने इतिहास नियन्त्रित स्व को उतार फेंकने को पूरी तरह स्वतत्र नही है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सच ह कि हमारी कम प्रेरणाएँ पूरी तरह हमारी सामाजिक परिस्थिति से निर्धारित नही होती। अपने चारो आर क वस्तु जगत के

तयशुदा अर्थों से रोज ही हमारी मुठभेड होती है पर वे तयशुदा अथ कभी भी हमारे स्वतत्र अभिप्राय ग्रहण की क्षमता पर हावी नही हो सकते । स्वय भाषा—इस विचारक की दृष्टि मे—हमारे और हमारे जगत के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धो का सर्वोत्तम उदाहरण है। यो तो जो भाषा हमे मिलती है, वह पूरी तरह वैयाकरणो और कोपकारो द्वारा स्थिर किये गये नियमो और अर्थों मे बँधी हुई होती है हम मनमाने ढग से शब्दो का इस्तेमाल नही कर सकते। परन्तु क्या हम इसी नियमबद्ध भाषा मे अपनी सवथा निजी और नई शैली विकसित करने को स्वतन्त्र नही है ? क्या प्रत्येक महान् कृति ऐसा ही नही करती आई है ?

यह भी इस सदी का एक रोचक विरोधाभास है कि दशन के क्षेत्र मे भी काफी कुछ हलचल ऐसे लोगो द्वारा पैदा की गई जो मूलत दशनशास्त्री नहीं कहे जा सकते । एक ऐसे युग मे जबकि दशनशास्त्र का सरोकार उन समस्याओ से बिल्कुल कट गया था, जो तत्व चिन्ता (मेटाफिजिक्स) के नाम से परम्परागत दशन के केन्द्र म रहे आए थे यह सचमुच अचरज का विषय है कि दूसरे अनुशासनो से—विशेषकर विज्ञान और गणित से—आए हुए लोगो ने यह जिम्मेदारी सम्भाली । विटगेन्स्टाइन एक मूलत इजीनियर था (और कुमार स्वामी भी मूलत भूगभशास्त्री थे) । ऐडिंग्टन और व्हाइट हेड जैसे मूलत गणितज्ञ लोगो का पूणकालिक दार्शनिक बन जाना भी ऐसी ही घटना है। स्वय पाश्चात्य जगत् मे इसकी अनुकूल और प्रतिकूल दोनो तरह की प्रतिक्रियाएँ हुइ और व्यग्य भी किया गया कि 'पराभौतिकी का यह जो उत्तराधिकार भौतिकी ने सम्हाला है, वह खुद ही दीवालिया है। [illegible] दशनशास्त्र ने फालतू बोझ की तरह उतार फेंका उसका दार्शनिक [illegible] भी क्या है। विज्ञान तो सदा से दशन के उतारे हुए कपडे [illegible] रहा है। उससे तत्वज्ञान के क्षेत्र मे किसी नयी पहल की [illegible] बेकार है।' निश्चय ही यूरोपीय दशन के इतिहास का [illegible] आपत्ति बिल्कुल निराधार नही लगती। यह [illegible] दशन के विकास के लिए उसे पहले मनुष्य की [illegible] कर एक स्वायत्त गति प्रदान करता है, [illegible] धम के प्रतिपादन मे जुटा देता है। [illegible] और स्वायत्तता दशन को दे दी थी—[illegible] अधीन रह पाती जो [illegible] थी उसे विद्रोह करना [illegible] पश्चिमी दशन के इस [illegible]

[illegible]

ही दिया। रोमाण्टिक आन्दोलन के रूप म जो अपना दौर उपस्थित हुआ, उसे भी इसी सुकराती 'रीजन' की एक अगली तार्किक परिणति के रूप म देखा गया है। पर कुछ विद्वानो के अनुसार यह रोमाण्टिक आन्दोलन दरअसल एक दूसरा पुनर्जागरण था जिसे उन्होन 'ओरिएण्टल रेनेसांस' कहा है। उनके मतानुसार जहाँ पहला पुनर्जागरण यूरोप को अपने ही अतीत के बारे मे चमत्कृत करके रह गया था वहाँ यह दूसरा पुनर्जागरण इस आत्म तुष्टि का पश्चिमी स्वय पर्याप्तता के भ्रम को तोडने वाला था। पहली बार यूरोप को अपने वृत्त से बाहर की मानव सस्कृतियो का, उसकी बौद्धिक उपलब्धियो का सही ज्ञान हुआ। भले ही बहुत बाद तक भी इस ज्ञान का उपयोग वह आत्म मथन की दिशा म न करके आत्म विस्तार की दिशा मे करता रहा हो।

यहा पर हम अपने आप इस सवाल के सामने स्वय को खडा पाते हैं कि इस मामले मे भारत की स्थिति क्या है? परम्परागत और समकालीन दोनो ही स्थितियो का निमम निरूपण किय बिना हम इस सवाल का जवाब नहीं दे सकते। ऊपर हमने देखा था कि पश्चिम म दशन ने स्वय को धार्मिकता से वियुक्त करके ही अपना स्वायत्त विकास किया और इसी क्रम म उसने विज्ञान को भी उन्मुक्त किया और बीसवी सदी तक आते आते स्थिति कुछ इस तरह उलट गई है कि अब विज्ञान ही एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जहा से वह इस सब ओर स घिर और फँस हुए दशन को कुमुक पहुचाने की कोशिश मे है। इसी तरह हम यह भी देख सकते हैं कि धम की ही तरह काव्य से भी निरपेक्ष और स्वतन्त्र गति यूरोपीय दशन की रही है और अब आधुनिक काल मे विशेषकर अस्तित्ववादियो के यहाँ दशन लौटकर फिर साहित्य का आश्रय लेता प्रतीत होता है। ठीक वस ही जसे वह वज्ञानिक चिंतन से पुष्टि प्राप्त करता हुआ अपने क्षेत्र सकोच से उबरने का यत्न करता दीख पडता है। कुल मिलाकर यह प्रकारान्तर से धम विज्ञान और काव्य से विच्छिन्न दशन का पुन अपनी केन्द्रीय स्थिति को प्राप्त करने जसा उपक्रम कहा जा सकता है। भारत म दशन की स्थिति और गति इसस भिन्न तरह की रही है क्योकि यहा मूल मे ही यह अनुभव स्थापित है कि आत्म बोध की जमीन पर ही विषय बोध सभव होना है और विषय कल्पना ने मूत्र आत्म कल्पना स ही नि सृत होत हैं। यहा न तो उस धार्मिकता से पूरी तरह अलगाया गया न काव्य से। धम और विज्ञान के बीच उस तरह के सघष की नौबत भी नही आई। निश्चय ही इस अखण्डता के आग्रह ने अपने नुकसान भी होगे किन्तु फायदे भी कम नही रहे होग। मानव चेतना के सौंदर्यात्मक, बौद्धिक और

नतिक स्तरा के बीच वैसे असामजस्य और विग्रह की नौबत भी नही आई जसी कि यूरोप के इतिहास म बार बार आई दीखती है। हम पाते हैं कि सौंदय की वैदिक धारणा ही नही कालिदासीय धारणा भी बौद्धिक और नतिक है। डा गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के शब्दा म 'भारतीय काव्य कला की परम्परा म मनुष्य की ऐतिहासिक रूपावली की खोज नही है बल्कि उसके सनातन स्वरूप की खोज है। उसकी मुख्य धारा म प्राकृतिक-सामाजिक यथाथ के प्रति ऐतिहासिक और वैज्ञानिक कौतूहल के स्थान पर परम्परागत और परिचित रूपा के द्वारा पुरुषार्थो के अनुचिन्तन पर आग्रह है।' पाण्ड जी के इस निरूपण से असहमत होने का कोई कारण नही दिखाई देता। पर सवाल यह है कि क्या आज के साहित्य के बारे म यही बात इतने विश्वास के साथ कही जा सकती है? क्या व्यापक भारतीय समाज तथा उसके बुद्धि जीवियो के बीच कोई जीवन्त क्रिया प्रतिक्रिया का सम्बन्ध सचमुच देखा जा सकता है? समकालीन वास्तविकता—उसके अनुभव और निर्माण म क्या लोक के सभी स्तरा की भागीदारी और जिम्मेदारी देखी जा सकती है? अगर नही तो क्या? बौद्धिक और सामान्य-जन के बीच इस अन्तराल और अलगाव के कारण सिफ वतमान मे हैं या इतिहास और परम्परा मे भी? क्या समाज के चोटी के नेताओ के भी परम्परा बोध और नियति-बोध परस्पर विरोधी नही रहे हैं? क्या उन विरोधा के सामजस्य का कोई रचनात्मक धरातल पाया जा सका है? या कि एक कामचलाऊ समझौतावाद और भीतरी अराजकता ही समकालीन परिदृश्य है? अनेकता मे एकता का दाशनिक सिद्धान्त क्या नए युग बोध और नई परिस्थितिया की चुनौतियो के सम्मुख क्या आज भी पूरे समाज को रचनाशील बनाए रख सका है?

इसमे कोई सदेह नही कि अपने यहा नवीन विचारो और रूपो का भाष्या के नाम पर ही समावेश करने की परम्परा रही है और इन भाष्या के द्वारा रचनात्मक परिवतन भी हुए ही हैं। किन्तु इस सत्य को भी अनदेखा नही किया जा सकता कि नई परिस्थितिया जिस सामूहिक कायाकल्प की, सगठित और अनुशासित कम की चुनौती प्रस्तुत कर रही है, उसके लिए सामूहिक मन को जसे कभी तयार ही नही किया गया था। भाष्या की परम्परा तो ठेठ बीसवी सदी तक सक्रिय रही आई है। अकारण नही कि श्री अरविंद से लेकर गांधी जी और विनोबा तक ने गीता की व्याख्यायें की। यदि हम इन भाष्या का तुलनात्मक अध्ययन करें और फिर पहले के भाष्या के साथ रखकर उन्ह पढ़ें तो यह भी एक दिलचस्प अनुभव होगा कि परम्परा के साथ नई परिस्थितियो के सम्बन्ध के लचीलेपन का सही अदाज हम लगा सकेगा। दूसरी

और दार्शनिक भारतीयता और आचरणगत भारतीयता के बीच—फिलॉसाफिकल हिंदुइज्म और रिट्रैवियरल हिंदुइज्म के बीच जिस फर्क की चर्चा देशी विदेशी विद्वानों द्वारा की जाती रही है, उसका भी निर्मम आत्मालोचनापरक परीक्षण आवश्यक है।

आखिर क्या कारण है कि बुद्धिजीवियों के बीच भी यहाँ एक ओर लगभग अराजकता के स्तर का ढुलमुलपन और दूसरी ओर निहायत परोपजीवी किस्म की कट्टरता के दर्शन होते रहते हैं? व्यापक समाज का कोई सर्वनिष्ठ और सुनिश्चित स्वरूप कल्पना में चरितार्थ नहीं होता और सच तो यह है कि व्यापक समाज की ओर से उनके अपने जीवन और अनुभव की भाषा में सोच सकने और बोल सकने वाले लोग विरल ही दीख पड़ते हैं और वे भी वास्तविक सामाजिक जीवन पर या सत्ताधारी नेतृत्व पर किसी प्रकार का प्रेरक प्रभाव डाल सकने की स्थिति में नहीं हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि बीसवीं सदी में यह आत्मालोचन या परम्परा के नवीकरण का रचनात्मक कार्य हुआ ही नहीं। देखा जाए तो ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों स्तरों पर इस आध्यात्मिक परम्परा ने स्वयं को समय महापुरुषों के माध्यम से जीवन्त सिद्ध किया है। कर्म के क्षेत्र का एक ही उदाहरण भी देखें तो क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि गांधी जी ने अपने जीवन कार्य को 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' की अनूठी, युगसम्मत और यथार्थ संज्ञा देते हुए एक बुरी तरह से एंठी हुई परम्परा को ही आधुनिक जरूरतों के सन्दर्भ में पुनर्जीवन देने की कोशिश की थी? किन्तु जैसा कि आचार्य कृपलानी ने लिखा है, गांधी जी अपने क्रान्तिकारी विचारों अथवा कार्यों के लिए प्राचीन शब्दावली का ही प्रयोग करते थे। विदेशी और पारिभाषिक शब्दावली से बचने की कोशिश भी। इसी का नतीजा था कि भौतिकवादी और आध्यात्मवादी दोनों ही प्रकार के बुद्धिजीवियों ने उन पर प्रहार किये। एक ने उन पर आध्यात्मिक जीवन में राजनीति और अर्थशास्त्र का समावेश कर उसकी शुद्धता नष्ट करने का आरोप लगाया तो भौतिकवादी कम्युनिस्टों ने उनका विरोध इस आधार पर किया कि सत्य और अहिंसा सम्बन्धी अपने विचारों तथा साधन साध्य के अद्वैत सम्बन्धी उनके आग्रह ने आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के बारे में बुद्धिभ्रम पैदा कर दिया है। पीछे कहीं मैंने कवि विचारक श्री विजयदेवनारायण साही की एक उक्ति उद्धृत की थी, उसे भी कृपलानी जी के इस कथन के साथ जोड़कर देखना दिलचस्प होगा। इसी सिलसिले में आगे कृपलानी जी ने यह भी लिखा है कि

'आधुनिक मस्तिष्क गांधी जी के विचारों को समझकर उनकी कद्र तभी कर सकता है जब वह पहले अपने का इस शब्दजाल की दासता से मुक्त कर ले।

मैंने यह उद्धरण यहाँ पर इसलिए दिया कि जब हम समकालीन वास्तविकता और उसके भाषिक सप्रेषण की चर्चा करते हैं तो हमें दोनों के वैश्विक और एतद्देशीय सन्दर्भों को देखते हुए अपने बौद्धिक क्रिया कलापों और रचनात्मक प्रवृत्तियों का नए सिर से मूल्यांकन करना चाहिए। निर्मम आत्मलोचन की दृष्टि से विचार करें तो आचार्य कृपलानी का उपरोक्त आरोप हम अपनी समकालीन वास्तविकता पर किसी ऊँचाई से थोपा हुआ नहीं लगेगा, बल्कि उस वास्तविकता का ही एक अंग लगेगा तो इतना स्पष्ट ही हो गया होगा कि सवाल यहाँ गांधी जी का नहीं है, न उनके साथ हमारे सम्बन्ध का। सवाल दरअसल उस दरार को देखने और उसे भरने के लिए कुछ करने का है जो हमारे नैतिक जीवन, बुद्धिजीवन और कलात्मक जीवन में हर जगह दिखाई दे जाती है और जो हमें अक्षरशः आत्मनिर्भर नहीं होने देती। इसी सिलसिले में स्वयं भाषिक सप्रेषण के सबसे संवेदनशील क्षेत्र—काव्य क्षेत्र का भी हवाला दिया जा सकता है क्योंकि समाज कर्मी और राजनीति कर्मी के साक्ष्य की तुलना में एक कवि का साक्ष्य प्रस्तुत प्रसंग में अधिक अवधान लग सकता है। यूँ भी हमारे यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान से कहीं अधिक प्रामाणिक शब्द-प्रामाण्य को माना गया है। मुझे यहाँ अज्ञेय की एक कविता याद आ रही है — इशारे जिन्दगी के, जिसमें हमारे वैयक्तिक सामूहिक मन का अन्तर्द्वन्द्व बड़ी मार्मिक स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। कविता के पूर्वार्द्ध में कवि 'संस्कार की रंगीन पट्टियाँ' की चर्चा करता है और कहता है और हमने यही जाना था/कि रूपाकार ही तो सार है। आगे वह इस आत्म विभाजन की विडम्बना को स्पष्टतर होते हुए देखता है और पाता है कि—पर हमारे शब्द जनता के नहीं थे/क्योंकि जो उन्मेष हममें हुआ/जनता का नहीं था/ संवेदना ने ही विलग कर दी/हमारी अनुभूति हमसे/यह जो लीक हमको मिली थी/अन्धी गली थी । इस विचलित कर देने वाले आत्म-स्वीकार और स्थिति बोध का अन्त कहाँ होता है, यह देखने की बात है। कवि इस 'अन्धी गली' के साक्षात्कार से नहीं कतराता, न उसे किसी अमूर्त आश्वासन में फुलाता है। किन्तु साथ ही वह उसके सामने निष्क्रिय आत्मावसाद की मुद्रा को भी नहीं अपनाता। वह इस बिन्दु पर भी स्पष्ट पहचानता है कि ज़िंदगी की ललकार को सुनते रहना कवि कर्म की अनिवार्यता है। और इसी 'सुनते रहने' में भविष्य की संभावना का संकेत भी कहीं छिपा है।
मोड़ आगे और भी है—कौन उसकी ओट, देखो झांकता है। यह

तो हुई अपनी काव्य यात्रा के एक पडाव पर कवि की अनुभूति। पर वरसा बाद एक विचारक के रूप म भी उसका निष्कप इसी अनुभव की अगली कडी की तरह— एक अनिवाय से लगते गत्यावरोध को दूर करने की उसी चिन्ता और आस्था के अनुभव परिपक्व फल की तरह हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है और यही इस लेख का उपयुक्त समापन भी होगा

'पूरा समाज जिस भाषा के साथ जीता है उसम और उसी के साथ जीते हुए अगर हम उस जीवन सन्दभ को पहचानते है और उस भाषा म रचना करते है तो हमारा समाज भी रचनाशील हो सकता है। जबकि दूसरी ओर अनुवादजीवी समाज के सामने जब कोई नई चीज आती है तो वह तुरन्त दूसरे का मुह देखने लगता है क्योकि अपनी शक्ति को पहचानना उसने सीखा ही नही। भाषा हमारी शक्ति है, उसको हम पहचानें वही रचनाशीलता का उत्स है व्यक्ति के लिए भी और समाज के लिए भी।

वत्सल निधि द्वारा आयोजित रायकृष्णदास मेमोरियल व्याख्यान माला के अन्तगत पठित व्याख्यान

कविता और समाज
[एक परिसवाद]

कल हमने कविता में आत्म संघर्ष की बात की। आज हम कविता और समाज के दो खण्डों की परिकल्पना खडी करके दोनो का सम्बन्ध देखने को प्रेरित हो रहे हैं। विचार की यह मजबूरी है कि वह वस्तुओ या संबंधो में एक बहुत बडे जाल के बाहर खडा होकर जब उसे देखना समझना चाहता है तो उसे अखंड नही देख सकता—उसे तोडकर अलग करके ही देख सकता है। मगर विचार की यह भी मजबूरी है कि सिर्फ इस तरह चीजो को अलग कर, तोडकर ही न समझे, बल्कि उन्हें फिर से आपस मे जोडे—एक नयी एकता पैदा करे। सारे सिस्टम इसी तरह बनते हैं। और चूंकि आदमी की बुद्धि सीमित है—इसलिए ये सिस्टम भी अलग होते हैं। अन्यथा अगर विचार सचमुच विचार है तो मनुष्य और ब्रह्माड की, सत्ता मात्र की एकता का अनुभव उसमे से बोलना चाहिए। मगर ऐसा होता नही है। इस दृष्टि से आप हिन्दुस्तानी विचार और यूरोपीय विचारधाराओं की थोडी सी तुलना अपने भीतर करें तो एक बडा रोचक दृश्य सामने आएगा। आप देखेंगे कि हिन्दुस्तानी विचार में इतिहास में काफी वविध्य होते हुए भी हिन्दुस्तान अद्वत में विचार को अर्थात् भेदा में अभेद की दृष्टि को छोड नही पाता है। जबकि पश्चिम में इतिहास में शुरू में ही हेरेक्लाइटस और बहुत बाद मे भी मार्क्स हैं। वे जब मनुष्य और ईश्वर के संबंध की मीमासा करने चलते हैं तब भी ईश्वर और शतान, शतान और ईश्वर पुत्र का द्वैत खडा किए बिना अपनी धार्मिक जिजीविषा को परितोष नहीं कर पाते, और इसी तरह जब वे व्यष्टि मानव और समष्टि मानव (समाज) के बीच के संबंध का चिंतन करते हैं तो वहाँ भी एक बुनियादी द्वन्द्व और विग्रह को ही मानवीय स्थिति पर घटाने को विवश होते हैं। मैं समझता हूँ यह इस मानसिकता में निहित था—मनुष्य और प्रकृति में संघर्षमूलक सम्बन्ध से शुरू आत करने का ही यह नतीजा था कि—इसकी परिणति एक तरफ मार्क्स और दूसरी तरफ नीत्शे में होती। निश्चय ही मैं ऐसा नहीं मानता कि सत्य की खोज पश्चिम की, हिंदुस्तान से कोई कम उत्कट रही है। मैं ऐसा भी नहीं कहता कि इतिहास विधाता ने, या कह लीजिए, काल पुरुष ने ही, जो कही

प्रयोग किए सत्य के साथ—पश्चिमी मानव और भारतीय मानव के जरिए—वे निरथक थे। पर इतना जरूर कहूँगा कि पश्चिम ने जो रास्ता चुना, वह अपेक्षाकृत आसान था।

मगर इस सघषमूलक, द्वन्द्व मूलक दृष्टि, सवेदन और विचार के साथ साथ एक अन्त सलिला के रूप म पश्चिम म भी एक समान्तर विचार-पद्धति बराबर मौजूद रही है, जो अद्वैत के अनुभव को ही प्रमाण मानकर चली है। हाँ, इतना जरूर है कि यह धारा वहाँ के इतिहास म कम बलवान, कम चारित्रिक रही है बनिस्बत उस धारा के, जो विग्रहमूलक है। हिन्दुस्तान के अनुभव म अखडता का विचार ज्यादा हावी रहा है। 'डिस्किसव रीजनिंग' पर एनालॉजिक्ल रीजनिंग' को, काव्यधर्मी विचार को हमेशा वरीयता दी गई है। क्योकि काव्यात्मक विचार म जोडने की सामथ्य ज्यादा होती है। विरुद्धो का सामजस्य' करने की शक्ति भी ज्यादा होती है।

मुझे ऐसा लगता ह कि जब भी किसी तक के पीछे कविता को चलाने की कोशिश हुई है, कविता की ऐसी तसी ही हुई है। और वह तक भी अमूमन एक घटिया विचार स प्रेरित होता है। यानि उस आवेश से, जिसम चराचर को तो क्या, सीमित मानव-सबधो के सत्य को भी यथावत् पकडने और जोडने की ताकत नही होती, देखा जाता है कि ऐसे विचारको का कला सवेदन भी बहुत घटिया होता है। भावुकता और इच्छित चिंतन स भरा हुआ। वे जब भी कला या कविता के बारे म बात करते देखे गए हैं—लगता है जसे क्षमादान कर रहे हैं उनके होने को। यह खेद की बात ह कि छोटा सत्य बडे सत्य से नफरत ही कर सकता ह। या ज्यादा से ज्यादा उसके सामने एक झूठी नम्रता का उपचार ही बरत सकता है। परन्तु इस सारे घालमेल के बावजूद क्या हम इस तथ्य की उपेक्षा कर सकते हैं कि सृजन कम की बुनियाद ही उस दोहरी प्रक्रिया मे है जिसे 'एकोऽह बहुस्याम्' तथा विरुद्धो के सामजस्य के रूप म पहचाना गया है? प्रकृति और पुरुष के जिस सम्बन्ध का साक्ष्य कविता देती है वह क्या दशन स भी ज्यादा प्रत्यक्ष और मूल्यवान नही? सघष और सहयोग के दुहरे स्तरो पर? इस मामले म भक्ति को लेकर किया गया चिंतन भी हमारे बडे काम का है। ऐसा कोई सामाजिक सबध नही है जिसके द्वारा हमने परम सत्ता से भी अपना सबध न जोडा हो। नवधा भक्ति के विचार पर थोडा इस दृष्टि से गौर करें तो वह समाज सत्य के बारे म की जाने वाली बहुत सारी लफ्फाजी मे सुरग लगाने धर देगा।

और ऐसा कतई नही है कि यह विश्व दृष्टि कोई दूर की कौडी है या महज कुछ विद्वानो या साधुओ का सरोकार है। हिन्दुस्तान के इस सहज विवेक ने

'यूरोप' के धार्मिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद के भीषण दबाव के बावजूद नए सिरे से आज की विश्व परिस्थिति के बीच अपने को प्रमाणित और पुनःपरिभाषित किया है। और ठेठ हिंदुस्तानी शब्दावली में, ठेठ हिंदुस्तानी संवेदन के साथ किया है। साथ ही, इस कदर उसने पश्चिम की व्याकुलता को पश्चिम की प्रयोगशीलता को पचाया है कि स्वयं बीसवीं सदी के कुछ भारतीय चिन्तक उस पर पश्चिमी प्रभाव से दूषित होने का आरोप लगाते देखे गए हैं। मैं समझता हूँ जिस तरह पश्चिम के संघर्षमूलक मानववाद की एक तार्किक परिणति कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो में हुई कही जा सकती है उसी तरह हिंदुस्तान के अद्वैतमूलक मानववाद (चराचरवाद) की एक परिणति हिंद स्वराज है। इस दृष्टि से देखने पर मुझे जान पड़ता है कि बीसवीं सदी की उपलब्धियों का जब भी कभी आगे जाके पुनर्मूल्यांकन होगा तो उसमें गाँधी के 'सत्याग्रह' की जगह मैक्सप्लैंक और आइंस्टाइन की बगल में होगी। हो सकता है लोग इसी नतीजे पर पहुँचें कि यह सत्याग्रह उस भेदमूलक मताग्रह को बहुत पीछे छोड़ देता है, क्योंकि उसके पीछे पश्चिम और पूरब दोनों के सबसे मूलगामी चिन्तन और अनुभव का बल है।

आप सोच रहे होंगे, विषय कविता और समाज है और यह कैसी दार्शनिक चर्चा हो रही है। पर यह दार्शनिक चर्चा कतई नहीं है, हाँ कविता और समाज के संबंध की वास्तविकता का दर्शन करने की व्याकुलता जरूर है। अगर मुझसे कहा जाये कि गाँधी का लिखा सब कुछ डूब रहा है सिर्फ एक वाक्य को बचा लो — तो मैं जिस वाक्य को बचाना चाहूँगा वह यह है 'जब कभी तुम्हारे मन में अपने किसी कर्म, या विचार के बारे में संशय उत्पन्न हो तब तुम अपने सामने अपने जाने हुए सबसे दुखी और सताए हुए आदमी की मूरत खड़ी करो और सोचो, क्या तुम्हारा कर्म या विचार ऐसा है कि जो उस आदमी को कहीं से कोई राहत दिला सके — उसे भीतर या बाहर से कोई वास्तविक मदद पहुँचा सके। अगर उत्तर हाँ है तो तुम्हारा कर्म और विचार सही है, नहीं तो गलत है।'

हमारी शताब्दी के एक बड़े कवि का कहना है कि आदमी की मेधा सिर्फ एक चीज को चुन सकती है या तो जीवन की पूर्णता को, या फिर रचना की पूर्णता को। दोनों का इकट्ठा निर्वाह एक आदमी नहीं कर सकता है। कुछ फांक तो रहेगी ही। उसने यह भी कहा है कि जब हम अपने आपसे झगड़ते हैं तब हम कविता करते हैं, जब हम दूसरों से झगड़ते हैं तो रेह्टारिक उपजाते हैं।' यह एक विचित्र विडम्बना है कि इस सदी की शुरूआत में हमने जिस कर्म प्रेरणा को, जिस सत्याग्रह को समाज और राजनीति में सक्रिय देखा वह

इस कविता के स्तर पर कम था—क्योंकि वह अपने आप से झगड़ता था अपने को सबके पापों के लिए गुनहगार मानकर चलता था—और इस सदी के अंत में स्थिति इसके ठीक विपरीत है। यहाँ खुद रेह्टारिक को ही कविता के सिंहासन पर बिठाया जा रहा है। कम की तो बात ही क्या? जहाँ कविता का मम ही भुलाया जा रहा हो, कविता के, खुली सम्भावनाओं वाले स्तर पर ही सारी चुनौतियाँ समाप्त की जा रही हों, वहाँ कम — ठोस सामाजिक और राजनतिक कम — की क्या अधोगति होगी इसकी कल्पना की जा सकती है। कवि कम भी कम है पर वह ठोस सामाजिक कम का स्थानापन्न बन जाए, तो इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है। इस तरह तो कविता और समाज दोनों पंगु होते हैं और महज आत्म प्रवंचना को बल पहुँचता है। निश्चय ही कम — सामाजिक कम — की सीमाएँ है क्योंकि मानव स्वभाव की अपनी सीमाएँ हैं और कविता की सीमाएँ असीम लगती हैं क्योंकि उनमें भाषा की गति सबसे ज्यादा उन्मुक्त और अप्रतिहत होती है। कवि-कम की चिंता भी इसीलिए जरूरी है कि कविता की यह बीजधर्मिता ही उसे सबसे ज्यादा सम्भावनाशील बनाती है। जिस दिन यह सम्भावना समाप्त हो जाएगी — मानव समाज की भी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाएँगी। आखिर सभ्यता का इतिहास मानव और उसकी भाषा का ही इतिहास है। मगर भाषा सिर्फ शब्द से वाक्य तक का मौखिक से लिखित तक का इतिहास ही नहीं है। शब्द केवल सभ्यता के साथ नहीं है, आदिम भावनाओं से भी उसका गहनतम सम्बन्ध है। इसीलिए काव्य कल्पना की जो सबसे बड़ी विभूति है जिसे हमारे यहाँ 'ध्वनि' और उधर आडिटरी इमजिनेशन कहा जाता है, उसके बारे में यही प्रसिद्ध है कि यह आडिटरी इमजिनेशन वही काम करती है, जहाँ मनुष्य चेतना के ये दो छोर—प्रिमिटिव और सिविलाइज्ड छोर, आपस में जुड़ जाते है। तभी सबसे गहरे वाग्रथ की सृष्टि होती है। जो मानव और मानव समाज की सम्भावनाओं के लिए एक रचनात्मक अवकाश बनाए रखती हैं।

यहाँ पर मुझे तुलसीदास याद आ रहे हैं। उन्होंने कवि कम को 'नाम निरूपण और नाम जतन' की संज्ञा दी है और कहा है 'कि अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।' यानी कविता साक्षी और दुभाषिए का काम करती है कान्क्रीट और एब्स्ट्रैक्ट के बीच, रूप और अरूप के बीच व्यक्ति और समाज के बीच मानव और प्रकृति के बीच।

अगर ऐसा है तो कविता के इस स्वभाव और सामर्थ्य की रक्षा करना हमारा धम है। रेटरिशियन की तरह, राजनीतिकों और पत्रकारों की जूठन उठाते

हुए हमें कविता की एक छोटी सी जबरदस्ती थोपी गई गवाही से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। निश्चय ही हम अपनी सामर्थ्य भर कविता ही लिख सकते हैं पर अपनी सामर्थ्य से कविता की सामर्थ्य को नापना, उसे मनमाने ढंग से परिभाषित और सीमित करना एक बहुत बड़ा झूठ है। क्योंकि ऐसा करने से कविता की सामर्थ्य वास्तव में वैसे ही कुंठित हो भी जाती है। और दूसरे क्षेत्रों की ही तरह यहाँ भी अपने कर्मों के फल से हम बच नहीं सकते। सब कुछ नष्ट किया जा सकता है—संस्कृतियाँ भी, कविता भी। यह कहते हुए मैं खुद ही चौंक गया हूँ क्योंकि कविता की सबसे बड़ी विशेषता ही यह मानी गई है कि वह 'काल को जीतती है।' ऑडेन ने अपनी एक प्रसिद्ध कविता में लिखा है कि 'काल जो किसी को नहीं बख्शता कविता को बख्श देता है।' बल्कि वह कविता का आभार मानता है कि उसने काल के सर्वसंहारक स्वभाव को ऐसा अहिंसक मगर अनुल्लंघनीय प्रतिरोध दिया। निश्चय ही मैं किसी कालजयी कविता का आदर्श लेकर ये बातें नहीं कर रहा हूँ। आज आदमी जैसी कविता लिख सकता है, उसी की बात कर रहा हूँ। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि अपनी गुलामी में खुद सहायक बनने के लिए कोई वजह नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि आज हिन्दी कविता को आत्म हत्या का नुस्खा थमाया जा रहा है। यह अकारण नहीं, कि इधर कुछ लोग तार सप्तक के बाद की कविता को अनहुआ करने के लिए एक तर्क साँचा गढ़ने को कुलबुला रहे हैं। इसके पीछे नीयत कुछ यह जान पड़ती है कि आज की कविता का जो मस्तक है उसे तो काटकर फेंक दिया जाय और बाकी जो धड़ बचे उसके लिए एक दूसरा मस्तक खोजा जाय। वैसे तो इस कोशिश में कोई बुराई नहीं है। गणपति-विनायक की प्रतिष्ठा के लिए अपने यहाँ क्या क्या नहीं किया गया। मगर इन नए पुण्यात्माओं और अतीत के पौराणिकों के बीच एक बड़ा फर्क है। उस पौराणिक कारवाई के पीछे एक जबर्दस्त काव्य तर्क था—आदमी और पशु की बुनियादी एकता का। बल्कि पशु के सौन्दर्य को वहाँ देवता की तरह प्रतिष्ठित करने की बात थी। क्योंकि आदमी अपनी जिस तर्क शक्ति के कारण आदमी है वह अपने अतिरेक पर एक बड़ी खतरनाक चीज भी बन सकती है। अपनी महत्वाकांक्षा में तर्क की यह तानाशाही मनुष्येतर सृष्टि के प्रति संबंध के भाव को ही नष्ट कर दे सकती है। मगर आज मामला बिलकुल उलटा है। ये लोग अपनी परंपरा को अपने ढंग से यथावत् खोज करने की बजाय एक उधारी के ढंग से, पराए तर्क की रोशनी में अपनी परंपरा की काट पीट करके वह मस्तक गढ़ा चाहते हैं। ये दिखाना चाहते हैं कि इन चालीस बरसों में जो हुआ है वह हिन्दी कविता का स्वाभाविक विकास नहीं

की दिशा म, युग की चुनौतियो के सम्मुख एक सवथा जीवन सम्मत और जीवनदायी सतुलन पाने के लिए पण्डुलम के दोना छोरा को छूना अनिवाय नही लगता ? व्यक्ति का मारकर समाज को नही जिलाया जा सकता और समाज भी समाज शास्त्र की एक अवधारणा भर नहीं है। कविता भी सिफ 'क्रिटिसिज्म ऑव लाइफ' ही नही है, 'रवलेशन आव ए हिडन लाइफ' भी है। फिर यह मामूली सा तथ्य भी याद रखना जरूरी है कि कविता सिफ समाज या व्यक्ति म से ही नही निकलती कविता, कविता से भी निकलती है। भाषा यानी काव्य भाषा की जो तत्कालीन परिस्थिति है, उसका भी प्रभाव पडता है। चालू छन्दो मे सामयिक राजनतिक सामाजिक परिस्थितियो को गा लेना कतई कवि कम नही है। एक समूचे समाज के भीतर सही आत्मनिणय की चुनौती के चलते सस्कार और सवेदन का जो बहुस्तरीय द्वन्द्व है वह एक कवि की सवेदना के जरिए जब कभी अभिव्यक्त होता है तो उसके लिए वागथ के जिस सूक्ष्म सरचनात्मक सतुलन की आवश्यकता होती है, उसे महज तथाकथित गीतितत्व से या तथाकथित सामाजिक तत्व से अथवा दोना के किसी तदथ और मनमाने मेल से नही पदा किया जा सकता।

भारत भवन द्वारा आयोजित परिसवाद म दिया गया व्याख्यान

जनतंत्र और समालोचना

जनतंत्र और समालोचना सरीखे विषय की सूझ के पीछे कहीं 'साहित्य और समाज' 'साहित्य और राजनीति' 'साहित्य और प्रगति की अवधारणा' जैसी बहसों की अनुगूंज भी शामिल है और उस इसी सिलसिले में देखते हुए उस पर विचार करना होगा। यहाँ जो सम्बन्धवाचक 'और' है, वह कहीं 'जनतंत्र और आलोचना' के बीच एक सतही समीकरण बिठाने या दोनों के बीच घालमेल पैदा करने का निमित्त न बन जाय, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक होगा। उदाहरण के लिए कहने को यह कहा जा सकता है कि जिस तरह समालोचना (साहित्यिक आलोचना के सीमित अर्थ में) किसी देश की साहित्यिक संस्कृति का निर्माण करने का सब से महत्वपूर्ण साधन है उसी तरह जनतंत्र भी किसी देश की राजनीतिक संस्कृति का निर्माण करने का सब से महत्वपूर्ण साधन है और इसलिए दोनों के बीच ताल मेल या अन्तःक्रिया आवश्यक है। मगर सवाल यह उठता है कि अगर यह तथाकथित राजनीतिक संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया सब कुछ के राजनीतिकरण की शक्ल अख्तियार कर ले — जैसा कि हमारे यहाँ हो रहा है — और यह राजनीतिक संस्कृति स्वयं विघटन और पतन के कगार तक पहुँच जाय, यहाँ तक कि सामाजिक संस्कृति स्वयं उसके अपकर्ष में हिस्सा बँटाती दीखने लगे तो ऐसे में आलोचना कर्म की मर्यादाएँ कौन निर्धारित करेगा? जो करेगा वह क्या 'जनतांत्रिक' या 'साहित्यिक' भी बना रह सकेगा? यह बात बिल्कुल अलग है कि साहित्यिक स्तर पर भी सच्चा और मूल्यवान बने रहने के लिए आज आलोचक को बुद्धिजीवी की उस व्यापक भूमिका से जुड़ना ही पड़ेगा जो महज जनतंत्र की एक बुद्धि विलासी अवधारणा के प्रति नहीं, बल्कि अपने देश और समाज की संस्कृति और परिस्थिति के प्रति एक दुहरे दायित्व भाव से अनुप्राणित हो। उसे तथाकथित जनतंत्री आदर्श की उस दोहरी विडम्बना को भी आर पार देखना होगा जो या तो ई० एम० फास्टर सरीखे उदारवादियों की तरह बर्बरता के एक ही झोंके से पस्त पड़ जाती है या फिर अमरीकी जड़हीनता की तरह निरंतर स्नायविक उत्तेजना से ग्रस्त रहती है।

इसी बात का एक दूसरा पहलू भी विचारणीय है। जनतंत्र के बारे में कहा

गया है कि यह 'बहुमत के लिए बहुमत द्वारा, बहुमत का शासन' है। क्या हम इस परिभाषा का आलोचना पर — या कहिए — आलोचना नाम की क्रिया को ही इस परिभाषा तक — घटा सकते हैं? यह मानते हुए कि आलोचना बहुमत का बहुमत के लिए बहुमत द्वारा शासन है? यू बात सुनने मे बड़ी मजेदार लगती है और युक्तियुक्त भी ठहराई जा सकती है कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ आलोचक का मत शुरू म भले ही अल्पसख्यक या अकेला लगे बाद म तो वही बहुमत के रूप म प्रतिष्ठित हो सकता है, तो यह स्थापित यानो व्यवस्था बन चुकी आलोचना ही एक मात्र आलोचना है। पर जाहिर है कि यह अपने आप म अतविरोधी तक होगा। एक दूसरी तरह के लोग भी जनतत्र और आलोचना के इस हास्यास्पद समीकरण को यह कहके उचित ठहरा सकते हैं कि तथाकथित स्वय नियुक्त क्रातिकारी बुद्धिजीवी ही तो असली 'बहुजनहिताय वाले हैं उनका मत ही असली बहुमत है। इसलिए वही आलोचना समत और जायज है जिस इस बहुमतवादी अल्पमत का निरकुश शासन बिलाशत स्वीकार हो। जाहिर है कि यह तक भी तकशक्ति की ही एक दूसरी विडम्बना को उजागर करता है और वस्तुत इसका सम्बध न जनतत्र से है न आलोचना बुद्धि स। राजनीति मे बहुमत किस तरह बनता है, सब जानते हैं जरूरी नही वह लोकमत का सही सकेत हो। राजनीतिक मताधिकार के लिए अधिकार भेद के यथाथ को मानना न सभव है, न वाछनीय। पर आलोचक के लिए तो न केवल प्रबुद्ध होना अनिवाय है बल्कि नैतिक दृष्टि से साहसिक भी। विवेक सम्पनता इस जमाने म पहल की अपेक्षा कही अधिक दुलभ और कही अधिक जोखम भरी चीज है। ऐसे अभूतपूव दबाव हैं जो स्वय बुद्धिजीवियो को अबौद्धिक आचरण म लिप्त होने की छूट दे देते हैं और बौद्धिक ग्लानि स भी उन्ह सुरक्षित कर दे सकते हैं। भारतीय बौद्धिक के लिए तो यह और भी कठिन समय है वह न तो विवेक की अपनी परपरागत कसौटी के प्रति सवेदनशील रह पा रहा है न पश्चिमी परिभाषा का 'इण्टलिगेन्सिया' ही बन पा रहा है। वह एक तरह से दोनो के बीच समझौता करके दोनो का लाभ उठाना चाहता है। सवाल यह उठता है कि जो अपने विचारो के लिए अकेले पड जाने या अलोकप्रिय हो जाने का जोखम नही उठा सकता, वह बुद्धिजीवी किस बात का है? अगर उसका मताग्रही हो जाना उस सत्याग्रही होने की ज्यादा विस्तृत और गहरी जिम्मेदारी से मुक्त कर देता है, अगर उसकी बौद्धिकता एक आवरण और कवच की तरह स्वय उसकी विवेक बुद्धि को ही ग्रस लेती है तो वह आलाचक कहलाने का अधिकारी ही कस है? क्या उसकी बुद्धि इस प्रकार एक व्यापक मूल्य भ्र श की सामान्य

प्रक्रिया म ही हिस्सेदार नही बन रही ? तब फिर इस मूल्य मूढता मे बीच उसकी आलोचना का मूल्य भी क्या है ? क्या वह स्वय मूल्य मूढ और मूल्य-द्रोही नही बन जाती ? परिस्थिति के नाम पर सस्कृति का शोपण और सस्कृति के नाम पर परिस्थिति का शोपण — क्या यही वह आचार सहिता है जो हमने पिछले बरसो मे आलाचक नामक जीव के लिए बनाई है ?

कहना न होगा कि साहित्य के क्षेत्र मे यह समालोचना भी हमारे लिए उतनी ही नई चीज है जितनी राजनीति के क्षेत्र मे जनतत्र। अनभ्यास के कारण नई चीज का नशा भी कुछ ज्यादा ही चढता है इस कारण और भी, कि दोनो के साथ जाने वाला, दोनो को वश मे रख सकने वाला जिस तरह का अनुशासन पश्चिम की केन्द्रोन्मुख सम्यताओ म अन्तर्निहित हुआ करता है, उस तरह का अनुशासन हमारी विकेन्द्रीकृत जीवन व्यवस्था वाली मानसिकता के लिए उतना सहज नही होता—कष्ट साध्य ही होता है। बहरहाल, कष्ट साध्य हो तो हो, उसे स्वायत्त तो करना ही पड़ेगा और इस सीखे हुए अनुशासन को उस दूसरे अनुशासन के —अर्थात् अपने परम्परागत आत्मानुशासन के साथ सही सही सदर्भित भी करना ही पड़ेगा। इस तरह देखने पर दोना ही क्षेत्रो मे जहाँ हमारे लिए विशिष्ट सम्भावनाएँ दीखेंगी वही विशिष्ट चुनौतियाँ भी महसूस होगी। तो विषय के निरूपण के लिए सबसे पहले तो यही पता लगाना चाहिए कि हमारे बुद्धि-जीवियो — विशेषकर साहित्य क्षेत्र के बुद्धिजीवियो के मन म इन चुनौतियो और सभावनाओ का किस तरह का नक्शा बनता रहा है आज और आज स पहले के उस आरम्भिक दौर मे, जब जनतन्त्र की देहरी पर हम पाँव रखने ही जा रहे थे। सन् 1945 म प्रकाशित त्रिशकु के एक लेख म अज्ञेय ने इस नई परिस्थिति का विश्लेपण करते हुए आलोचनात्मक विवेक के महत्व को रेखांकित किया था। इस लेख से पता चलता है कि वैज्ञानिक-प्रगति के प्रति अपने मुग्ध भाव के बावजूद हिन्दी का साहित्यकार उस समय भी साहित्य की समस्याओ को एक व्यापक सास्कृतिक और पारिस्थितिक सन्दर्भ मे ही रख-कर देख रहा था और आलोचना को मात्र एक अलग अनुशासन की तरह नही, बल्कि समूचे जातीय जीवन और साहित्य के पुनर्निर्माण के एक साधन के रूप म प्रस्तुत कर रहा था। 'बिना गहरी और विस्तृत अनुभूति के सस्कृति नही है और बिना वैज्ञानिक, आलोचना मूलक ट्रेनिंग के ऐसी अनुभूति नही है'—अज्ञेय के इस कथन म जोर जिस 'आलाचना मूलक ट्रेनिंग' पर है वह अपने आप म साध्य नही है अनुभूति को विस्तृत और गहरा बनाने के अनिवार्य साधन के रूप मे ही उसका महत्व स्वीकार किया गया है। और वह इसलिए, कि सस्कृति स्वय ही आक्रान्त है। यह अकारण नही है कि

अज्ञेय ने यहाँ आलोचना को 'परखने और मुकाबला करने की शक्ति' के रूप मे प्रतिपादित किया है और यह प्रतिपादन आज भी उतना ही प्रासंगिक लगता है। स्वय अज्ञेय के ही शब्दो म

' स्वस्थ सस्कृति मे हम नागरिक को स्वतन्त्र छोडकर आशा कर सकते हैं कि उसकी परिस्थिति से ही उसकी सस्कृति उत्पन्न और नियमित होगी। किन्तु आज यदि हम जीवन के गौरव की रक्षा करना चाहते हैं तो हमे परखने और मुकाबला करने की शक्ति को सगठित करना होगा। हमे एक आलोचक राष्ट्र का निमाण करना होगा। यह अतिरिक्त जागरूकता ही बचने का एकमात्र उपाय है।

अज्ञेय का उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक जान पडा कि नवीनतर सन्दभ मे जिस जागरूकता का निरूपण प्रस्तुत विषय के प्रस्तोताओ को अभीष्ट जान पडता है — उसकी पृष्ठभूमि के रूप मे त्रिशकु के लेखो का स्मरण स्वाभाविक है। सही विचार के लिए थोडा सवाद या परिसवाद भी आवश्यक जान पडता है — खासकर इसलिए भी, कि आधुनिक युग के जनतान्त्रिक आग्रहो के मेल मे ही–स्वय समालोचना कम के लिए जो आदश स्वीकार किया गया है वह 'कॉमन परसूट ऑव ट्रू जजमेण्ट' ही है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक दौर क इस प्रस्थान बिन्दु से आरम्भ करके, हम इस आवश्यक सवाद की भूमिका बनाने के लिए मराठी कथाकार आलोचक भालचन्द्र नेमाडे तथा हिन्दी के तीन ठेठ समकालीन कवि विचारको — मलयज, अशोक वाजपेयी तथा विपिन अग्रवाल—द्वारा इस सिलसिले मे व्यक्त किए गए कुछ विचारो का हवाला प्रस्तुत करेंगे और फिर योरोपीय समालोचना के सदर्भ को भी देखते हुए विषय को अपनी समझ के मुताबिक आगे बढाते हुए यह आप पर छोडेंगे कि इस सवाद और एकालाप से किसी ट्रू जजमेन्ट का सकेत उभरता है कि नही ?

अशोक वाजपेयी का कहना है कि किसी दृष्टि की शक्ति की परख इससे भी होती है कि वह किस हद तक दूसरी दृष्टियो द्वारा प्रस्तुत चुनौतियो के प्रति जागरूक है और किसी नई सचाई के दबाव मे अपने को यथोचित सशोधित करने को तत्पर है। स्पष्ट ही, इस मांग म पीछे जनतत्र और समालोचना के सच्चे रचनात्मक सम्बन्ध की पहचान और आग्रह दोनो हैं। मगर यहाँ एक कठिनाई सामने आती है जिसे हमारे बुद्धिजीवियो ने अपने अपने ढग से परिभाषित किया है। मसलन कथाकार और कवि विपिन अग्रवाल के कथनानुसार विडम्बना यह है कि शिक्षा के अभाव मे देश म एक प्रतिशत से भी कम लोग सजनात्मक कार्यों म भाग ले पा रहे हैं और शिक्षितो के बीच

भी धम, विज्ञान और साहित्य के विशेषज्ञ गुट बन गए हैं जिनमें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती नहीं।' विपिन अग्रवाल इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को समाज से लेने ही लेने और बदले में कुछ भी नहीं देने की प्रवृत्ति, यानी इकतरफा फिजूल खर्ची मानते हैं और इस बात की सख्त जरूरत महसूस करते हैं कि 'ये विशेषज्ञ गुट आपस में मिलें—टकराएँ, इनमें आपसी संवाद हो। साथ ही इनमें और राजकीय प्रशासकों के बीच भी वार्तालाप हो।

यह वार्तालाप क्या और कैसे जरूरी है, इस बारे में इधर साहित्य क्षेत्र के ही नहीं, अन्य क्षेत्रों के बुद्धिजीवियों में भी एक नया सोच उभरता दिखाई दे रहा है। जो कि पुराने आदर्शवादी या रोमानी सोच से थोड़ा अलग पड़ जाता है—इस माने में, कि वह स्वातन्त्र्योत्तर भारत की परिस्थितियों के यथार्थ दर्शन का, साहित्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया का महज़ साक्षी न मानते हुए उसमें सक्रिय भागीदार बनने का तकाज़ा महसूस करता है। भालचन्द्र नेमाडे स्पष्ट अनुभव करते हैं कि 'राजनीति और साहित्य एक ही समाज के दो पहलू होने के कारण उनमें तालमेल होना आवश्यक है।' निश्चय ही यहाँ साहित्य को राजनीति के पीछे चलाने का नहीं, बल्कि साहित्य की सामाजिकता को, साहित्य की समाज सापेक्षता को भी सही-सही पहचानने और आँकने का आग्रह है जो हमें एक दूसरे सन्दर्भ में उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नाल्ड के संस्कृति चिंतन का स्मरण करा देता है बेशक अपने ही स्वाधीन तर्क और तेवर के साथ। जहाँ एक ओर नेमाडे यह मानते हैं कि 'समीक्षा साहित्यिक संस्कृति के निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण साधन है', वहीं वे इस असुविधाजनक और चौंकाने वाले तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान खींचना जरूरी समझते हैं कि 'राजनीति के नेता भी किसी देश की साहित्यिक संस्कृति का संकेत देते हैं।' नेमाडे की यह टिप्पणी मुझे हिन्दी साहित्यिकों के उस वर्तमान आचरण के सन्दर्भ में खासतौर पर विचारोत्तेजक लगती है जहाँ एक ओर तो राजनीतिकर्मी मात्र के प्रति एक निहायत आत्म-तुष्ट और आत्ममुग्ध हिकारत की भावना है और दूसरी तरफ उसी राजनीति के सम्मुख रीढ़रहित आत्म समर्पण की या गलीज़ समझौते की तत्परता भी। आचरण का यह अन्तर्विरोध अपने आप में चिन्त्य है, वह राजनीति के साथ साहित्य के सम्बन्ध की मर्यादाओं का उल्लंघन है। सच पूछा जाए तो यह राजनीति के साथ किसी तरह के रचनात्मक सम्बन्ध की सम्भावनाओं को ही नष्ट कर देता है। जब नेमाडे यह कहते हैं कि 'लेखकों को राजनीति को आदर देना ही चाहिए, नहीं तो उनकी भी राजनीति में कोई कीमत नहीं होगी' तब वे निश्चय ही साहित्य के राजनीति के साथ, अर्थात् उसी

मानवात्मा की एक आभ्यंतरिक शक्ति, और उसी की एक बाह्य कि-तु सजातीय शक्ति के बीच एक ऐसे फलप्रद सम्ब ध पर जोर दे रहे हैं जो आखें चौतरफा खुली रखकर बनाया हुआ सम्ब ध है, जो प्रजात न्त्र के असली तात्पय से निकलने वाला सम्बन्ध है, जिसमे एक दूसरे की मर्यादाओ का स्पष्ट विवेक और स्वीकार भी निहित है। जनतन्त्र मे लेखक आलोचक की भूमिका क्या है, इस बारे म नेमाडे की दृष्टि इसीलिए बहुत स्पष्ट है उन्ही के शब्दो मे— 'सामाजिक रूप से सतक रहते हुए व्यक्ति की मूलभूत स्वाधीनता की चेतना समाज मे निर्माण करना ही लेखक आलोचक की भूमिका है।' इस प्रकार जनतन्त्र के ये दोनो ही पहलू— सामाजिक सतकता' और 'व्यक्ति की मूलभूत स्वाधीनता की चेतना' नेमाडे के लिए अन्योन्याश्रित और समान रूप से महत्वपूण ठहरते हैं। एक की कीमत पर दूसरे को पाने की बात न तो जनतन्त्र को रास आ सकती है, न उस मानवीय अनुशासन को, जिसका नाम साहित्य या समालोचना है।

कुल मिलाकर इस तरह बात व्यक्ति और समाज के रचनात्मक सबध की आधारभूत शर्तों की बात बन जाती है एक गहरे अथ मे मानव मूल्यो की। और समालोचना इस सवाल से जूझने लगती है कि ये मूल्य कहाँ से तय होते हैं परम्परा से, समकालीन मूल्यबोध से राजनीतिक विचारधारा से अथवा धार्मिक सवेदना से ? जसी कि अशोक वाजपेयी की मान्यता है — 'आलोचना दुहरी सपृक्ति माँगती है परम्परा से भी और समकालीन मूल्य बोध से भी। इन दोनो के बीच जो तनाव होता है वही आलोचना को उसकी रचनात्मक उत्तेजना देता है। इससे प्रतीत होता है कि जनतन्त्र म समालोचको के बीच जो भी दृष्टि वभिन्य होगा, वह इन दोनो मुद्दो पर ही होगा। उदाहरण के लिए जब भालचन्द्र नमाडे यह कहते हैं कि 'उस शासन का सत्ता म आना जरूरी है जो आज के पूजीवादी विधि विधान और पुरानी न्याय व्यवस्था को उठाकर फेंक दे, अन्यथा अपने हिन्दू लोकतन्त्र की मात्र मंदिर जैसी मूलभूत अधिकारो की पाषाण पूजा करने का रिवाज चलता रहेगा', तब जाहिर है कि एक लेखक के रूप म यह उनका समकालीन मूल्य बोध बोल रहा है। इसी तरह जब व कहते हैं कि 'वैश्विक संस्कृति के युग म पदा होना अहोभाग्य है, मगर दुनिया मे भारतीयो की पहचान हिन्दू के रूप म होना आवश्यक है', तब यह लेखक के रूप म उनका परम्परा बोध भी बोल रहा है। निश्चय ही आलोचना की जिस दुहरी सपृक्ति की बात अशोक वाजपेयी कर रहे हैं, वह दुहरी सपृक्ति नेमाडे मे भी मौजूद है। इस दुहरी सपृक्ति क चलत ही अशोक वाजपेयी की समालोचना जहा एक ओर जातिप्रथा, हरिजनो के उत्पीडन,

साधारण मनुष्य को अपनी भाषा की दुनिया से काटने की अमानवीयता इत्यादि को भारत के प्रजातन्त्र की सही विसगतियो के रूप मे देखती है, वही वह दूसरी ओर यह भी पहचानती चलती है कि 'हमारी कविता मे मूल्य वत्ता और महत्व बोध के क्षय को धार्मिक सवेदना के ह्रास के साथ जोडा जा सकता है' और यह भी कि 'काव्य रचना और धार्मिक सवेदना का फिर से जोड शायद कविता को एक मूल्यवान् मानव व्यापार के रूप मे सुरक्षित रख सकता है।' सवाल यहा पर यह उठता है कि स्वय आज के भारतीय बुद्धिजीवियो के बुद्धिजीवन का इस व्यापक धर्म चेतना से किस तरह का सम्बन्ध है? कोई सम्बन्ध उस तरह है भी कि नही? दूसरा सवाल यह उठता है कि 'फिर से जोड' कहने मे जिस टूटन की स्वीकृति निहित है, उसके कारण क्या थे या हैं? क्या हमारी आलोचना साहित्य की तरह हमारे सामाजिक जीवन मे भी इस धार्मिक सवेदना के ह्रास को स्वीकार करती है? अगर हाँ तो क्या वह उसका यथातथ्य और पर्याप्त आकलन कर सकी है? अन्य व्यापक सामाजिक तथ्यो और प्रवृत्तियो से उसका सम्बन्ध दिखा सकी है? अगर नही, तो काव्य सवेदना और धार्मिक सवेदना का जोड पहले तो सभव ही कसे होगा और हो भी गया तो उसका सामाजिक मूल्य क्या होगा? निश्चय ही यह एक मुद्दे की बात है, मगर इसीलिए तो ये सारे सवाल भी खडे होते है जिनका उत्तर हमारी आलोचना हमे नही देती। क्यो नही देती, यदि उक्त चिंता का सीधा सम्बन्ध हमारी परिस्थिति और सस्कृति से है तो?

दूसरी ओर इनसे जरा अलग किस्म की दृष्टि विपिन अग्रवाल और मलयज की जान पडती है। विपिन अग्रवाल के लिए समकालीन मूल्य बोध का सवाल आधुनिक चिंतन और आधुनिक रचनात्मकता का सवाल बन जाता है। वे इसे एक मूलत खडित घटना के रूप मे पाते हैं जिसका अतीत के साथ बहुत ही दूर का सबध है। वे ऐतिहासिक दृष्टि और प्रणालियो को ज्यादा महत्व नही देते और परम्परा को लेकर उनकी चिंता उस तरह सीधे मूल्यचिंता नही है। वे साफ कहते हैं कि 'जिस ओर जितनी परम्परा से विरक्त होकर उसे कच्चा माल हम आसानी से मान पाते हैं, उतनी ही परम्परा आधुनिकता मे प्रवेश करती है और वही हमारे काम की है?' इसी के साथ हमे मलयज की दृष्टि का भी उल्लेख करना चाहिए। मलयज का भी विचार है कि हमारी साहित्यिक परम्परा एक मूलत अद्वद्वमूलक सास्कृतिक चेतना से जुडी होने के कारण आज की रचना के लिए काम की नही है। 'पूर्व परम्पराओ से अब तक के हमारे मोह सबध से मुक्ति और बोध यन्त्र की नवीन परिस्थितियो की माँग के अनुरूप नयी धार पैदा करना' ही मलयज की दृष्टि से, 'वस्तुत विज्ञान और

प्रजातन्त्र की आधारभूत प्रतिज्ञाओ और चिंतन पद्धतियो की सजनात्मक परिणतियां' हैं।

जहा विपिन अग्रवाल 'चुनावों की सम्भावना को बढ़ाने वाली' आधुनिकता के आत्म विश्वासपूर्ण स्वीकार म ही परिस्थिति का हल पाते है वहा मलयज इसके साथ मानव सम्बधो की सजग चेतना और जिम्मेदारी के भाव को भी महत्व देते है। मलयज की दृष्टि मे रचनात्मक अर्थान्वेषण का क्षेत्र वह मानव सम्बध है जो 'विज्ञान और प्रजातन्त्र की शक्तियो की बुनियाद पर एक अपेक्षाकृत अधिक ठोस यथार्थ और सक्रिय धरातल पर व्यक्ति के प्रत्येक विवेकपूर्ण निर्णय के साथ प्रतिबद्ध है।' अशोक वाजपेयी भी इस हिस्सेदारी के भाव को अपनी आलोचना दृष्टि मे महत्व देते दिखाई देते हैं। पर यही है कि परम्परा से सम्बन्ध के बारे मे दोनो मे गहरा मतभेद है। वहाँ मलयज, विपिन अग्रवाल के अधिक निकट जान पड़ते हैं। 'परम्परा से निरपेक्ष बोधयन की बौद्धिक सक्रियता' ही मलयज की दृष्टि मे 'हमे अपने परिवेश की गत्यात्मक मौ दयात्मक सम्भावनाओ से सपृक्त कर सकती है' और विपिन अग्रवाल का आधुनिकता सम्बधी चिंतन भी कमोवेश इसी के मेल मे है।

सवाल फिर भी बचा रहा जाता है कि क्या परम्परा और समकालीन मूल्य बोध के द्वन्द्व का परिहार इतना सहज है ? भालचन्द्र नेमाडे के विचारो का हवाला देते हुए हमने उस कठिनाई का कुछ आभास पाया था जो उनके अनुसार 'वैश्विक संस्कृति के युग में जीने के सौभाग्य तथा दुनिया मे भारतीयो को अपनी पहचान एक हिन्दू के रूप मे होने की आवश्यकता' दोनो को एक साथ रेखांकित करती है अशोक वाजपेयी की समालोचना दृष्टि की चर्चा के दौरान भी हमने देखा कि उनके यहा भी एक दुहरी सपृक्ति की माग है परम्परा और समकालीन मूल्यबोध दोनो के साथ। मगर इसी सिलसिले म आगे जाकर उन्होने ठेठ समालोचना के क्षेत्र की एक दिक्कत की चर्चा करते हुए कहा है कि अगर पश्चिम म मनुष्य की हालत को पहचानने का मतलब परिभाषाओ की बहुलता से जूझना है तो हमारे देश मे ऐसी कोशिश वचारिक अस्पष्टताओ और अपरिभाषित प्रसगो का सामना करना है। हो सकता है, ऐसा ही मगर यही पर तो सब सवालो का सवाल हमारे सामने मुह बाए खडा मिलता है कि ऐसी स्थिति क्या है ? क्या बिना वचारिक स्वराज्य की मूलभूत और लगातार स्थगित की जाती रही चुनौती को स्वीकार किए 'वचारिक अस्पष्टताओ और अपरिभाषित प्रसगो का सामना करना सभव है ? कहीं ऐसा तो नही कि यह विभ्रम स्वय उस विफलता स ही उपजता हो ! जसा कि अज्ञेय ने भी अभी हाल म एक जगह लिखा है— भारत की

बौद्धिक परम्परा पश्चिम की बौद्धिक परम्परा से भिन्न रही है और यह भेद आज भी उपेक्षणीय नहीं है यद्यपि हम पश्चिम की परिभाषाओं को अधिक से अधिक स्वीकार करते आ रहे हैं।' क्या इस सच्चाई को अनदेखा किया जा सकता है और क्या अशोक वाजपेयी द्वारा उठाई गई आलोचना की उक्त समस्या का सम्बन्ध इससे भी नहीं है ?

•

विश्वविख्यात इतिहासज्ञ ई. पी. टोम्सन का कथन है कि 'भारत का समाज एक असाधारण रूप से खुला हुआ और अभी तक अधबना समाज है।' देखा जाय तो ये दोनों ही बातें एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं अगर उसमें यह असाधारण खुलापन नहीं होता तो प्रतिरोध पैदा करने वाली जो विविध वर्गीय अनेकता है इस समाज की वह एक आरोपित और मिथ्या एकता से लुप्त कर अपना स्वरूप हो अब तक खो चुकी होती। मगर क्या असाधारण खुलेपन के भी अपने असाधारण जोखम नहीं होते ? विकास का जो मॉडल हमने, शायद, अपने इसी खुलेपन के चलते हमने स्वीकार किया ही है, वह क्या हमारी आवश्यकताओं और वास्तविकताओं के साथ समंजस सिद्ध हो रहा है ? इसी तरह, हमारे खुलेपन की ही तरह, क्या हमारे अधबनेपन पर भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता ? वे कौन हैं जो समाज को बनाते हैं ? और समाज उन्हें कैसे बनाता है ? क्या इस निर्माण में—इस अधबनेपन में भी—समाज के हर स्तर की ऐसी भागीदारी है कि आखिरी आदमी का भी उसमें अहसास हो सके ?

टोम्सन का यह भी कहना है कि 'भारत समूचे विश्व भर के विचारों की एक खुली हुई हाट है। दुनिया के किसी भी हिस्से में चलता फिरता कोई विचार ऐसा नहीं है जो किसी न किसी हिन्दुस्तानी दिमाग में अन्दर कहीं हरकत न कर रहा हो। टाम्सन के मुताबिक 'यह एक ऐसी बात है जो सोवियत रूस के बारे में या चीन के बारे में नहीं कही जा सकती।' निश्चय ही वस्तुस्थिति का यह एक सही आकलन है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'विचारों की यह खुली हुई हाट' ही जनतंत्र और समालोचना दोनों के लिए आदर्श स्थिति है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हमारे देश में बुद्धिजीवी साहित्यिक और साहित्येतर—इस स्वतन्त्रता का सही सही और जिम्मेदार उपयोग कर पा रहे हैं ? क्या उनके सामने अपने सांस्कृतिक परिवेश और परिस्थिति से उद्भूत होने वाली चुनौतियों और सम्भावनाओं का कोई नक्शा स्पष्ट है। और क्या उनका आचरण वास्तव में ऐसा है कि कहा जा सके कि वे परखने ... वला करने' की उस शक्ति को सगठित कर पा रहे हैं जिसे एक आलोच... की विशेषता के रूप में पहचाना गया था ? इस प्रश्न का उत्तर पाने

हमे आधुनिक आलोचना के उस व्यापक सन्दर्भ म भी थोडा भाकना होगा जहा से हमारे बुद्धिजीवी अक्सर प्रेरणा ग्रहण करने के अभ्यस्त रहे हैं।

कभी कभी लगता है, उन्नीसवी से बीसवी सदी म जो सक्रमण हुआ है, उसम और और मूल्यो के साथ इस आलोचक बुद्धि क मूल्य भी बदल हैं। उन्नीसवी सदी का मैथ्यू आर्नाल्ड जब आलोचना कम को परिभाषित करता है तो इस नतीजे पर पहुँचता है कि क्रिटिसिज्म इज द प्रोपेगेशन ऑव द बेस्ट दट इज थॉट एण्ड रिटन इन द वर्ल्ड'। यह कोई उपदेश कुशल सदाशयता ही नही है, आर्नाल्ड की व्यापक अभिरुचि और जिनासा का प्रमाण खुद उसके अपने आलोचनात्मक व्यवहार म मिलता है। वह फ्रास के दिमागी खुलपन और वचारिक तेजस्विता पर तो मुग्ध है ही यूनानी भाव बोध से भी उसने खासी नजदीकी हासिल की है और रोमन विचारक मार्क्स आरीलियस के 'स्टाइसिज्म' के प्रति उसका लगाव उसको अनिवायत गीता की समत्वबुद्धि वाले दशन की ओर भी आकर्षित करता है। आर्नाल्ड आधुनिक जीवन और जनतान्त्रिक समाज के प्रति एक सकारात्मक और समावेशी दृष्टि अपनाना चाहता है। इसी चक्कर मे वह जगह जगह अन्तर्विरोधो स भी घिर जाता है। पर उसकी बुनियादी चिंता मानव आत्मा के भरपूर जीवन की सभावनाओ पर एकाग्र है। साहित्य को वह जीवन का अलकरण नही, औजार मानता है और इस बात पर जोर देता है कि साहित्य केवल मात्र व्यक्ति के प्रयत्न का नही बल्कि एक पूरे समाज के पुरुषाथ का परिणाम होता है। उसका आदश वह शक्त नतिकता है जो दुनिया को सुधारने म और सत्य की विजय मे पूरी आस्था के साथ कम करती है। इसी दृष्टिकोण स वह साहित्य को 'जीवन की आलोचना के रूप मे प्रस्तुत करता है। यह दृष्टि जो दो कसौटियाँ प्रस्तावित करती है, वे हैं पर्याप्तता और बल प्रदान करने की शक्ति। अर्थात साहित्य को एक तो जीवन की माँग का भरपूर प्रत्युत्तर होना चाहिए और दूसरे उसे मनुष्य के चित्त को स्थिरता व दृढता प्रदान कर सकना चाहिए।

मगर बीसवी सदी म समालोचना का चरित्र कुछ सिकुडता प्रतीत होता है वह बाहर से बडी विश्व चेतस दिखती है पर भीतर से बहुत घरबन्द चालाक और मतलबी होती गई है। यह भी लगता है कि इस सदी की समालोचना के दिशानिदेशक और मूल्य निणायक एडमड विल्सन सरीखे व्यापक मानव निष्ठ भावबोध वाले लोग नही रहे बल्कि वे लोग रहे जिनकी शुरूआती प्रतिना भले ही एक वृहद मानववादी मण्डल की रही हो पर जो अपने चितन और व्यवहार म भी लगातार एक सीमित वृत्त के ही बन्दी होते गए भले ही उनके

बचाव म यह कहा जा सके कि उन्नीसवी सदी के उदारवाद की विफलता की ही यह अनिवार्य प्रतिक्रिया थी।

एलियट का उदाहरण इस मामले म काफी होगा जिसका दावा भले ही यूरोप, बल्कि सारी दुनिया को आत्मसात् करके बोलने का हो, सक्रिय सहानुभूति का दायरा बाद मे 'होली रोमन एम्पायर' से ही निर्दिष्ट होने लगता है। इसी तरह एक दूसर स्तर की शुद्धिवादी सकीर्णता हमे एफ आर लीविस जैसे आलोचको म दिखाई देती है जो अपने बहिष्कार प्रवण प्योरिटनिज्म मे एलियट को भी बहुत पीछे छोड जाते है। मसलन, एलियट की परम्परा की तुलना म लीविस की परम्परा और भी ज्यादा असहिष्णु और सकुचित है। जहा एलियट का परम्परा बोध उसे कभी कभी 'माइनर' को 'मेजर' बनाकर प्रस्तुत करने और इस तरह साहित्य के स्वदेशी विवेक मे जान बूझकर ऐंठन डालते हुए उसे एक अपने पूवग्रह की धार्मिक सास्कृतिक रथयात्रा मे जुतने लायक बनाने को प्रेरित करता है, वहा एफ आर लीविस की 'ग्रेट ट्रेडीशन' का यह हाल है कि उस डिकेन्स सरीखा महत्वपूण रचनाकार भी महज एक आखिरी दिना म लिखी गई छोटी सी किताब लेकर ही घुस पाता है।

कुल मिलाकर बीसवी सदी की यूरोपीय समालोचना की एक काफी प्रभावशाली धारा का मिजाज खासा तगचढा, अनुदार और कट्टरपथी है। यह तथ्य और भी ध्यान देने योग्य हो जाता है जब हम देखते है कि समालोचना का यह चरित्र राजनीतिक दृष्टि से वामपथी कहलाने वाले साहित्यिको के मामले म भी नही बदलता। ऐसा नही है कि मार्क्सिस्ट समालोचना की दुनिया ही विचारो के प्रति ज्यादा उन्मुक्त और आतिथ्यप्रवण हो। बल्कि वहाँ तो सहानुभूति का घेरा कुछ और भी ज्यादा तग हो जाता है।

उन्नीसवी सदी म जो विज्ञान के विस्फोट हुए उन्होने यूरोप की मनीषा को जहाँ एक ओर धार्मिक विश्वास के सकट म डाला, वही उसकी बुद्धि की स्वाधीन ऊर्जा और आतिथ्य क्षमता को भी उन्मुक्त किया। मगर जो यह तथाकथित 'लिबरल इटलिजेन्स' है यूरोपीय समालोचना की, उसकी सीमाओ का पता भी जल्द ही चल गया। उस स्वय आगामी दिनो की आपदा थी यह इस 'लिबरल इटलिजेन्स' का अन्तर्विरोध कह लीजिए या आतरिक कमजोरी कह लीजिए, यह कई जगह से वध्य थी। उसे अपनी सभ्यता के उस अतर्विरोध का सही अदाज नही था जो धर्म की जकडबन्दी मे घबडाकर प्रतिक्रिया करती हुई एक सवतन्त्र स्वतन्त्र बौद्धिकता की ओर भागती है और उस रास्ते काफी दूर चल जाने के बाद फिर अपनी ही स्वतत्रता स आतकित होकर पुन नई जजीरो को आमन्त्रित करती है। धार्मिक जकडन मे छूटी हुई

हमे आधुनिक आलोचना के उस व्यापक सदभ म भी थोडा झाकना होगा जहा से हमारे बुद्धिजीवी अक्सर प्रेरणा ग्रहण करने के अभ्यस्त रहे हैं।

कभी कभी लगता है, उन्नीसवी से बीसवी सदी म जो सक्रमण हुआ है, उसम और और मूल्यो के साथ इस आलोचक बुद्धि के मूल्य भी बदले हैं। उन्नीसवी सदी का मैथ्यू आनाल्ड जब आलोचना कम को परिभाषित करता है तो इस नतीजे पर पहुँचता है कि 'क्रिटिसिज्म इज द प्रोपेगेशन आव द बेस्ट दट इज थाट एण्ड रिटन इन द वल्ड'। यह कोई उपदेश कुशल सदाशयता ही नही है, आर्नाल्ड की व्यापक अभिरुचि और जिज्ञासा का प्रमाण खुद उसके अपने आलोचनात्मक व्यवहार मे मिलता है। वह फ्रास के दिमागी खुलेपन और वैचारिक तेजस्विता पर तो मुग्ध है ही यूनानी भाव बोध से भी उसने खासी नजदीकी हासिल की है और रोमन विचारक मार्कस आरीलियस के 'स्टाइसिज्म' के प्रति उसका लगाव उसको अनिवायत गीता की समत्वबुद्धि वाले दशन की ओर भी आकर्षित करता है। आर्नाल्ड आधुनिक जीवन और जनतात्रिक समाज के प्रति एक सकारात्मक और समावेशी दृष्टि अपनाना चाहता है। इसी चक्कर म वह जगह जगह अन्तर्विरोधो स भी घिर जाता है। पर उसकी बुनियादी चिंता मानव आत्मा के भरपूर जीवन की सभावनाओ पर एकाग्र है। साहित्य को वह जीवन का अलकरण नही, औजार मानता है और इस बात पर जोर देता है कि साहित्य केवल मात्र व्यक्ति के प्रयत्न का नही बल्कि एक पूरे समाज के पुरुषाथ का परिणाम होता है। उसका आदश वह शक्त नतिकता है जो दुनिया को सुधारने मे और सत्य की विजय म पूरी आस्था के साथ कम करती है। इसी दृष्टिकोण से वह साहित्य को 'जीवन की आलोचना' के रूप मे प्रस्तुत करता है। यह दृष्टि जो दो कसौटिया प्रस्तावित करती है वे है पर्याप्तता और बल प्रदान करने की शक्ति। अर्थात साहित्य को एक तो जीवन की माग का भरपूर प्रत्युत्तर होना चाहिए और दूसरे उसे मनुष्य के चित्त को स्थिरता व दृढता प्रदान कर सकना चाहिए।

मगर बीसवी सदी म समालोचना का चरित्र कुछ सिकुडता प्रतीत होता है वह बाहर से बडी विश्व चेतम् दिखती है पर भीतर से बहुत घरवन्द, चालाक और मतलबी होती गई है। यह भी लगता है कि इस सदी की समालोचना के दिशानिदेशक और मूल्य निर्णायक एडमड विल्सन सरीखे व्यापक मानव निष्ठ भावबोध वाले लोग नही रहे बल्कि व लोग रहे जिनकी शुरूआती प्रतिज्ञा भले ही एक वृहद मानववादी मण्डल की रही हो पर जो अपने चितन और व्यवहार म भी लगातार एक सीमित वृत्त के ही बन्दी होते गए भले ही उनके

बचाव मे यह कहा जा सके कि उन्नीसवी सदी के उदारवाद की विफलता की ही यह अनिवार्य प्रतिक्रिया थी।

एलियट का उदाहरण इस मामले म काफी होगा जिसका दावा भले ही यूरोप, बल्कि सारी दुनिया को आत्मसात् करके बोलने का हो, सक्रिय सहानुभूति का दायरा बाद मे 'होली रोमन एम्पायर' से ही निर्दिष्ट होने लगता है। इसी तरह एक दूसरे स्तर की बुद्धिवादी सकीर्णता हम एफ आर लीविस जैसे आलोचकों मे दिखाई देती है जो अपने बहिष्कार प्रवण प्योरिटनिज्म मे एलियट को भी बहुत पीछे छोड़ जाते है। बल्कि, एलियट की परम्परा की तुलना म लीविस की परम्परा और भी ज्यादा असहिष्णु और सकुचित है। जहाँ एलियट का परम्परा बोध उसे कभी कभी 'माइनर' को 'मेजर' बनाकर प्रस्तुत करने और इस तरह साहित्य के स्वदेशी विवेक म जान बूझकर ऐंठन डालते हुए उसे एक अपने पूर्वग्रह की धार्मिक-सास्कृतिक रथयात्रा म जुतने लायक बनाने को प्रेरित करता है, वहाँ एफ आर लीविस की 'ग्रेट ट्रेडीशन' का यह हाल है कि उस मडिकेन्स सरीखा महत्वपूर्ण रचनाकार भी महज एक आखिरी दिनो म लिखी गई छोटी सी किताब लेकर ही घुस पाता है।

कुल मिलाकर बीसवी सदी की यूरोपीय समालोचना की एक काफी प्रभावशाली धारा का मिजाज खासा नकचढ़ा, अनुदार और कट्टरपथी है। यह तथ्य और भी ध्यान देने योग्य हो जाता है जब हम देखते हैं कि समालोचना का यह चरित्र राजनीतिक दृष्टि स वामपथी कहलाने वाले साहित्यिकों के मामले म भी नही बदलता। ऐसा नही है कि मार्क्सिस्ट समालोचना की दुनिया ही विचारो के प्रति ज्यादा उन्मुक्त और आतिथ्यप्रवण हो। बल्कि यहाँ तो सहानुभूति का घेरा कुछ और भी ज्यादा तग हो जाता है।

उन्नीसवी सदी म जो विचारो के विस्फोट हुए उन्होंने यूरोप की मनीषा को जहाँ एक ओर धार्मिक विश्वास के सकट म डाला वही उसकी बुद्धि की स्वाधीन ऊर्जा और आतिथ्य-क्षमता को भी उन्मुक्त किया। मगर जो यह तथाकथित 'लिबरल इटलिजेन्स' है यूरोपीय समालोचना की उसकी सीमाओं का पता भी जल्द ही चल गया। उस स्वय आगामी दिनो की आशका थी यह इस 'लिबरल इटेलिजेन्स' का अन्तर्विरोध कह लीजिए या आतरिक कमजोरी कह लीजिए यह कई जगह से स्पष्ट थी। उस पतनी सस्कृति के उस अतर्विरोध का सही अन्दाज नहीं था जो इस की अराजकता म पड़कर प्रतिक्रिया करती हुई एक मजबूत स्थायी कोटिक्रम की ओर भागती है और उस रास्ते काफी दूर चले जाने के बाद फिर भावी की स्वतन्त्रता म धार्मिक होकर पुन नई जकड़ो का आमन्त्रित करती है। धार्मिक जकड़न से छूटी हुई

यह बुद्धि अपने ही अधीर वेग से एक आर्थिक साम्राज्यवाद के स्वनिर्मित व्यूह में फँस जाती है और उससे निकलने के लिए एक बौद्धिक आर्थिक धर्म की रचना करती है जो बदले में उसकी स्वतंत्रता की बलि ले लेता है। सवाल यह है कि भारत यूरोप की इस ऐतिहासिक लाचारी को उसी की शर्तों पर क्या ढोए ? क्या अब हम यह साफ साफ नहीं दिख जाना चाहिए कि यूरोप का प्रजातंत्र उस परम्परा की उपज है जिसमें ज्ञान चेतना और धर्म चेतना का सम्बन्ध बुनियादी तौर पर गडबड है ?

यह अकारण नहीं है कि पिछले वर्षों में पश्चिम की आलोचक बुद्धि एलियट और लीविस से असंतुष्ट होकर मैथ्यू आर्नाल्ड की तरफ मुडी—न केवल मैथ्यू आर्नाल्ड की साहित्यिक आलोचना के प्रति, बल्कि उसके संस्कृति संबंधी चिंतन के प्रति भी। आर्नाल्ड की यह सांस्कृतिक आलोचना दृष्टि निश्चय ही फिलिस्तीन (मध्यवर्ग) और बार्बेरियंस (अरिस्टोक्रेसी) के खिलाफ थी स्वयं इंग्लण्ड की मूलत वाणिज्यसंस्कृति में ऐसी दृष्टि कुछ अलग और विलक्षण लगती है। पर वही समालोचना की एक उपजाऊ दृष्टि है जो संस्कृति को संस्कृति बनाने वाले मूल्यों की यथातथ्य चिंता कर सकती है जो समत्व बुद्धि के मानव मूल्य के प्रति भी उतनी ही संवेदनशील हो सकती है जितनी पाखण्डों को आर पार बेधने वाली व्यंग्य शक्ति के प्रति। यह एक मार्मिक विरोधाभास है आर्नाल्ड के व्यक्तित्व और भाव बोध का, कि जहाँ एक विचारक की हैसियत से वह युग धर्म को आत्मसात करता हुआ निरंतर विकास करता जाता है और विक्टोरियन व्यक्तिवाद और धार्मिक रूढिवाद से लडता हुआ अधिकाधिक समाजोन्मुख, भविष्योन्मुख बनता जाता है, वहीं एक कवि के रूप में वह इस परिवर्तन और आत्म विकास का अन्तर्साक्ष्य नहीं दे पाता। प्रायोगिक आलोचना के स्तर पर भी प्रजातांत्रिक उन्मेष के प्रथम कवि वाल्ट व्हिटमन के प्रति उसकी प्रतिक्रिया स्वयं उसी के मानदण्डों के मुताबिक न पर्याप्त है, न 'यथातथ्यात्मक'। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर वह कौन सी कमी अथवा हृदय दौर्बल्य है जो कविता को जीवन की आलोचना मानने वाले इस समालोचक को स्वयं काव्य में व्यक्त जीवन की नई सम्भावना और अभ्यर्थना के प्रति खुलने नहीं देती ? कहीं यह उदासी गहरे में मनुष्य के बुद्धिजीवन और धर्मजीवन के बीच कोई पुख्ता और विवेक सम्मत पुल न बना पाने की विवशता का ही परिणाम तो नहीं थी ? हम देखते हैं कि आर्नाल्ड का समूचा जीवन ही अपने युग के बुद्धिवादी संशय और धार्मिक आस्था के लिए छटपटाहट के बीच एक सतत और अशाम्य विग्रह से ग्रस्त रहा आया था। निश्चय ही उसकी प्रौढ आलोचना बुद्धिवाद

यह स्थापना करता है कि 'आलोचना ही वह औजार है कि जिसके द्वारा हम इस सर्वोत्तम की खोज और नाप जोख करते हैं।' मगर उसकी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आलोचना पुस्तक के केवल चार ही निबन्ध साहित्य से सम्बद्ध है, बाकी छ निबन्ध धर्म सम्बन्धी विवेचन को समर्पित हैं और मनुष्य के बुद्धि जीवन और धर्मजीवन के बीच के अन्तर को प्रकट करते हैं। यही वह इस निष्पत्ति पर पहुचता है कि मानव पुरुषार्थ की सम्पूर्णता के लिए अकेली बुद्धि पर्याप्त नही है कि अनेक ऐसे क्षेत्र है, जिनमे जनसामान्य की पथ प्रदर्शक वह हो ही नही सकती —कि धर्म का महत्व अभी भी कायम है और उसे नकारने या मिटाने की कोशिश बेकार होगी।

आर्नाल्ड जानता है कि रूसो को भी मानव बुद्धि की सीमाओ के बारे मे कोई गलतफहमी नही थी। रूसो ने खुद ही लिखा है कि 'सुकरात जैसा कोई विरला भले ही बुद्धि के बूते श्रेय की साधना कर ले, जहा तक मनुष्य जाति का प्रश्न है यह कभी की खत्म हो चुकी होती अगर उसकी रक्षा हर आदमी की तर्कक्षमता पर निर्भर करती। आर्नाल्ड के अनुसार भी सामान्य जनता दर्शन से नही धर्म से युक्त जीती है। वह दर्शन को धर्म से अलगाता है और कहता है कि इन दोनो का एक दूसरे के क्षेत्र मे दखल न देना ही उचित है। यूरोपीय चिंतन के इतिहास को देखते हुए यह अचरज की बात भी नही लगती। किन्तु क्या हिन्दुस्तानी बौद्धिको का भी यह विभाजन सहज और स्वीकार्य हो सकता है ? एक बार इस विभाजन को स्वीकार लेने पर फिर तो निस्संग आलोचना का आर्नाल्डीय आदर्श भी अंतत चिंतन और व्यवहार के द्वैत की अनुमति दे ही देता है। यानी श्रेयस को विचारों की दुनिया तक सीमित रखो और व्यवहार की दुनिया के लिए शक्ति का उपयोग करो। बस फिर तो हीगल का इतिहास दर्शन सुलभ है ही जो शक्ति के औचित्य को शक्ति की सफलता के आधार पर स्थापित करता है और इस तरह साध्य और साधन की एकता के विचार को, धर्म की नैतिकता से जुड़े-तात्विक प्रश्नो को—जड ही काट देता है। तो क्या आर्नाल्ड भी—आधे मन से ही सही—अततः हीगल के साथ हो लेता है ? 'माधुर्य और 'प्रकाश' का यह साधक प्रेय पर श्रेय को तरजीह तो जरूर देता है किन्तु श्रेय की उसकी कल्पना—यदि औपनिषदिक मानदण्ड से उसे नापा जाय—तो आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ऊँची नही है। वह एक धीर और उदार नैतिकता से आगे नही जाती। यही कारण है कि साधन और साध्य के महाप्रश्न से जूझने की बजाय उसकी बुद्धि एक तरह के समझौतावाद से सतुष्ट हो जाती है और इस तरह सत्ता संघर्ष के क्रूर प्रश्नो का यथातथ्य सामना करने से कतरा जाती है।

उदार वादी चिंतन की यही तो असली कमजोरी है जिसे बीसवी सदी मे बर्बरता के पहले ही विस्फोट ने उघाड कर रख दिया।

मगर आर्नाल्ड का संस्कृति चिंतन जॉन स्टुअट मिल के स्वातन्त्र्य चिंतन की तुलना मे तार्किक दृष्टि से कम नीरन्ध्र होते हुए भी एक मानी मे उससे आगे बढ जाता है क्योकि उसे रीज़न की स्वयं पर्याप्तता मे वसा भोला विश्वास नहीं है। दरअसल वह एक शाश्वत नैतिकता की खोज मे भटक रहा है जो यूरोपीय मानस का निर्माण करने वाली यूनानियत और यहूदियत की दो धाराओ को — अर्थात् अनेकता और वैविध्य की पक्षधर यूनानियत को और एकता की पक्षधर यहूदियत को — किसी तरह परस्पर संयुक्त और एक कर दे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि आर्नाल्ड उन्हें परस्पर विरोधी नही परस्पर-पूरक मानता है और इस बात पर खेद प्रकट करता है कि यूरोप के इतिहास चक्र मे ये दो प्रवृत्तियाँ एकसाथ समन्वित रूप मे प्रकट होने की बजाय बारी बारी से — एक के बाद एक — प्रभावशील हुइ। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि हमारे इतिहास चक्र और हमारी दार्शनिक दृष्टि के लिए इस तरह का विरोध बिलकुल असगत है। आखिर विश्व प्रपच की भूमिका म आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को इसी तथ्य को खासतौर पर रेखांकित करने की जरूरत क्यो पडी कि 'भारत मे अधिकार-भेद से एक और अनेक की उपासना साथ साथ चलती रही'? क्या यह आर्नाल्ड द्वारा प्रस्तुत यूरोपीय सभ्यता की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो का सहज दार्शनिक मेल ही नही है? हम अनुभव करते हैं कि स्वय आर्नाल्ड के कवि व्यक्तित्व के भीतर एक सतत असामजस्य रहा — सौन्दर्यात्मक और नैतिक के बीच 'हलेनिज्म' और 'हेब्राइज्म' के बीच जिसे वह अन्तरात्मिक स्तर पर अन्त तक भी हल नहीं कर पाया। किन्तु इसके बावजूद उसकी यह अन्तर्दृष्टि अपने युग की मानसिकता से निश्चय ही बहुत आगे थी कि थोडे से व्यक्तियो द्वारा उपलब्ध माधुर्य और प्रकाश तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक मानव जाति का बहुलांश भी उसे स्वायत्त नही कर लेता। यह दृष्टि ही आर्नाल्ड के संस्कृति चिंतन को ठोस आधार प्रदान करती है। उसकी इस धारणा से भी सहमत हुआ जा सकता है कि व्यावहारिक उतावली से मानव मूल्यों की क्षति ही होती है। निश्चय ही वह मानता था कि फ्रास की राज्यक्रांति अठारहवी सदी के महान् विचारो की चरितार्थता नही, बल्कि प्रवचना है और इस प्रवचना के मूल मे वही 'बुद्धिप्रसूत विचारो को फौरन व्यवहार म उतारने की अधीरता है।' आलोचना आखिर आदर्श और यथार्थ का आमना-सामना ही तो कराती है। आर्नाल्ड मानता है कि विज्ञान की तरह आलोचना भी किसी दल या किसी

उद्देश्य की सिद्धि भी नहीं हो सकती । उसे तो समग्र समाज पर और मानव कल्याण पर ही एकाग्र होना चाहिए । शायद इसीलिए वह तटस्थता का विरोध करता हुआ निस्संगता के आग्रह पर बल देता है और कहता है कि आलोचना को अपनी धुरी पर कायम रहने के लिए यह जरूरी है कि वह व्यावहारिक जीवन के उतार चढ़ावों से निस्संग रहे ।'

एक भारतीय को यहीं पर थोड़ी अटक महसूस होती है । निस्संगता हमारे लिए भी वांछनीय आदर्श रहा है । परन्तु निस्संगता की हमारी अवधारणा आर्नाल्ड से थोड़ी अलग पड़ जाती है—इसलिए कि कर्म की हमारी अवधारणा भी आर्नाल्ड से अनिवार्यतया भिन्न है । क्या हम इस पर विचार करते हुए अनासक्त कर्म की अपनी अवधारणा के बारे में—गीता से लेकर गांधी के हिन्दुस्तान में उसकी सुपरीक्षित और सुप्रमाणित जीवनी शक्ति के बारे में नहीं सोचने लगते ? और क्या इस तरह सोचते हुए हम सत्य और सत्ता, धर्म चेतना और बुद्धिवाद, सर्वोच्च अहं (बेस्ट सेल्फ) और सामान्य अहं (आर्डिनरी सेल्फ) की आर्नाल्डीय कोटियों के बीच के अन्तरस्थ विग्रह और असामंजस्य को एक दूसरे ही परिप्रेक्ष्य में देखने और सुलझाने की चुनौती या संभावना का भी अनुभव नहीं करते ? क्या यह भी सही नहीं है कि आर्नाल्ड की सारी प्रक्रिया 'बेस्ट सेल्फ' की अवधारणा का पीछा करते करते श्रेय और शक्ति के समन्वय की खोज करते-करते अन्ततः राज्यसत्ता में ही अपनी परिपूर्ति पाने को विवश प्रतीत होती है, जबकि मानवात्मा की सर्वोच्च संभावनाओं को जीवन में चरितार्थ करने का एतद्देशीय दर्शन इससे लगभग विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचता है और लगभग विपरीत मार्ग और पद्धति अपनाता है । यहाँ तक कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भी—जब भारतीय चिंतन और कर्म के लिए राजनीतिक स्तर पर भी इस परम्परागत दर्शन और प्रयत्न को पुनःपरिभाषित और पुनर्मूल्यांकित करने की अभूतपूर्व चुनौती पेश हुई तब भी—उसकी मूल वृत्ति और मूल निष्ठा में वैसी दरार नहीं पड़ी ।

लगता है आर्नाल्ड को भी अपने जीवनव्यापी आत्म मंथन और आत्म निर्माण की बदौलत किसी संतुलन, किसी सामंजस्य का कहीं धुंधला सा आभास मिला होगा । तभी न वह कहता है कि 'आलोचना को सबसे पहले धैर्य में दीक्षित होना चाहिए, उसे प्रतीक्षा करना आना चाहिए । उसे यह विवेक होना चाहिए कि कैसे किस वक्त चीजों से जुड़ा जाय और कैसे किस वक्त उनसे तटस्थ हुआ जाय ।' निश्चय ही आर्नाल्ड की निस्संगता और हमारे अनासक्त कर्म के बीच खासी दार्शनिक दूरी है । किन्तु इसके बावजूद दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है यह हम कैसे कह सकते हैं ? मुझे लगता है कि हमारी आलोचना को भी

आधुनिक परिस्थिति को समझने के लिए आर्नाल्ड का दृष्टान्त एक रोचक और विचारोत्तेजक दृष्टान्त है जो हमारे भीतर कई प्रश्न एक साथ उपजाता है। जैसे यही, कि भारत के बुद्धिजीवी यूरोप के लिबरल और रेडिकल चिंतन से किस मानों में कहाँ तक प्रभावित रहे हैं अपने समाज दर्शन और आत्म दर्शन में—अपनी आलोचना दृष्टि में भी? भारत के निकट इतिहास में—परम्परा और आधुनिकता को लेकर—भारतीय मूल्य दृष्टि और यूरोप की आधुनिक मूल्य दृष्टि को लेकर किस तरह के द्वन्द्व या मानस-मंथन प्रकट हुए? हमारी साहित्यिक संस्कृति में भी आत्म प्रत्यभिज्ञा और आत्म नवीकरण की संभावनाएँ किस तरह प्रकट होती रही हैं? हमने इसी सिलसिले में अज्ञेय के त्रिशंकु से आरम्भ करते हुए हिन्दी समालोचना के ठेठ समकालीन परिदृश्य की चर्चा की थी और आर्नाल्ड के संस्कृति चिंतन का विश्लेषण करते हुए एक तुलनात्मक सन्दर्भ में श्री विजयदेव नारायण साही और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी उल्लेख किया था। थोड़ा विषयान्तर ही सही, जब बात निकल ही पड़ी है तो हम आचार्य शुक्ल की उस बहुचर्चित पुस्तक (विश्व प्रपंच का अनुवाद और भूमिका) का थोड़ा और हवाला देने की जरूरत महसूस हो रही है। कदाचित् इस विषय के सिलसिले में यहाँ भी कुछ काम की बात हाथ लगे।

शुक्लजी की यह भूमिका एक रोचक मिसाल है इस बात की, कि एक देसी दिमाग किस तरह आधुनिक ज्ञान विज्ञान को अपनी भाषा में और अपने परम्परागत ज्ञान प्रतीकों के जरिए—आत्मसात् करके प्रस्तुत करता है। आखिर हिन्दी आलोचना के इस आदि पुरुष को यह क्या आवश्यक जान पड़ा कि वह एक विज्ञान की पुस्तक का अनुवाद करे उसकी इतनी विस्तृत भूमिका लिखे और उस भूमिका में न केवल उस नए ज्ञान की विवेचना करे बल्कि धर्म तत्व और ज्ञान के सम्बन्ध के बारे में जो भारत की अपनी दृष्टि रही है, उसकी तुलना यूरोपीय दृष्टि के साथ करते हुए असंदिग्ध रूप से इस तथ्य को सामने लाए कि दोनों में आधारभूत अन्तर क्या है और वह कितना महत्वपूर्ण है। भला विश्व प्रपंच जैसी नास्तिक किताब की भूमिका लिखते हुए धर्म चर्चा की क्या जरूरत थी! मगर स्पष्ट चिन्तन के तकाजे से ही आचार्य शुक्ल को अनुभव हुआ कि बुनियादी गफलत पर से अभी तत्काल पर्दा नहीं उठाया गया तो आगे अनर्थ ही अनर्थ होगा। इसीलिए उन्होंने पश्चिम की धर्म दृष्टि की बुनियादी आलोचना जिन शब्दों में की—उन्हें यहाँ उद्धृत करना जरूरी लगता है। वे कहते हैं —

जहाँ एकेश्वरवाद का पहले पहल तत्व दृष्टि द्वारा स्वाभाविक क्रम से विराग

हुआ वहाँ तो बहुदेववाद के साथ उसका पूरा समन्वय रहा। पर जहाँ उसका कलम लगाया गया, वहाँ आफत खडी हो गई। बाबुल के एकेश्वरवाद को यहूदियो न इसी तरह लिया। तीनो शामी मतो म व्यापकत्व का अभाव रहा। इस पगम्बरी एकेश्वरवाद के पहले ससार मे मतवादी युद्ध नही हुए। यूरोप मे ज्ञान की जो उन्नति हुई वह बहुदेवोपासक यूनानियो क प्रसाद से। अनाय ईसाई मत न तो ज्ञान की गति म बाधा ही डाली।'

थोडे ज्ञानमार्गी पूवग्रह (वह क्या त्रिशकु मे भी नही हैं ?) और उसके कारण ईसाइयत के प्रेमतत्त्व विषयक मौलिक योगदान के प्रति अपर्याप्त सवेदन शीलता के बावजूद शुक्लजी के उपरोक्त मन्तव्य मे निहित आलोचनात्मक विवेक का कायल होना ही पडता है। हमने मथ्यू आर्नाल्ड की चर्चा के प्रसग म उसके यूनानियत और यहूदियत विषयक द्वन्द्व का उल्लेख किया था। काश, कि मथ्यू आर्नाल्ड को शुक्लजी की इस आलोचना की खबर लग पाती ! स्वग म ही सही दोनो के बीच जो सवाद घटित होता उसकी कल्पना रोचक लगती है।

दूसरी ओर यह भी गौरतलब है कि आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने उक्त निबन्ध म पश्चिम के आधुनिक विज्ञान का न केवल अपने परम्परागत ज्ञान प्रतीको के हिसाब स, बल्कि अपनी परम्परागत धम बुद्धि के हिसाब स भी भरपूर स्वागत किया है। क्यो ? इसलिए कि उन्ही के शब्दो मे — 'भेदो मे अभेद ही सच्ची तत्त्व दृष्टि है। इसी के द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। यही अभेद ज्ञान और धम दोनो का लक्ष्य है !' इतना ही नही दूरदर्शी आचाय न मानो बीसवी सदी के भौतिक विज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियो को पहले से भाँपते हुए अपनी भूमिका का समापन यह कहके किया है कि — 'विज्ञान इसी अभेद की खोज म है। धम इसी ओर दिखा रहा है।'

सच पूछा जाय तो मानव स्वभाव — या कहिए, मानवीय बुद्धि मे ही एक दोहरी सम्पृक्ति की और दोहरे पुरुषाथ की माँग है जिसे मानव विकास की दृष्टि से एक उपजाऊ विरोधाभास के रूप म भी देखा जा सकता है। यह बुद्धि या आत्मा जहाँ एक ओर अपने लिए सपूण स्वाधीनता की माग करती है वहीं वह अपने लिए एक सर्वोच्च लक्ष्य की, श्रेय की खोज भी करती है जिससे वह प्रतिबद्ध हो सके और जिसके लिए जीवन भी उत्सग कर सके। अथात् ऐसी प्रतिबद्धता, ऐसी श्रेयसाधना जो उसे सम्पूण मानव समाज और सम्पूण सृष्टि के सदभ से जोडकर साथक कर सके। सभवत मानव चेतना की इसी दोहरी माँग के उत्तर मे धम खडे होते हैं। दूसरी ओर यह भी सच है कि जब बुद्धि स्वय अपनी स्वायत्त गति की ऊर्जा स धार्मिक विश्वास को असभव बना देती

है, तब धम मे जुडी उसी अपदस्थ भाव ऊर्जा की अतक्य प्रेरणाए ही बुद्धि ऊर्जा म परिणत हाकर ऐसी तक स्वरचनाए (सिस्टम) खडी कर देती हैं जो अपने आप म भले ही धार्मिक विश्वास की प्रतिलोम लग पर मानव-चेतना से मानव बुद्धि से उसी कोटि का समथन और समपण वसूल करने लगती हैं जसा कि इतिहास मे धम करते आए है। उदाहरण के लिए उन्नीसवी सदी म यूरोपीय ज्ञान के विस्फोट न जिस तरह चच का तख्ता पलटा, उससे एक आध्यात्मिक शून्य उत्पन्न हुआ और उसे भरने के लिए जहाँ एक ओर रहस्य वादी सम्प्रदायो की बाढ आई, उसी तरह नीत्शे और मावस की विचारधाराएँ भी प्रकट हुई। समालोचना मे भी—मथ्यू आर्नाल्ड जसे सधि कालीन विचारको के बाद इसीलिए परिवतन आना लाजिमी था। निश्चय ही यूरोपीय भाव बोध के इतिहास म लिबरलिज्म की दुबलता और अपर्याप्तता का भी पर्दाफाश होना लाज़िमी था और उसकी प्रतिक्रिया म दूसरी अत्याग्रही आलोचना दृष्टियो का पनपना भी। हमारे यहा, यह देखना दिलचस्प है कि इस सदी की शुरूआत म ही एक ओर श्री अरविन्द और दूसरी ओर महात्मा गाधी का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हे भी इस देश की चिंतन परम्परा के इतिहास की वैसी ही अनिवाय परिणतियो के रूप मे देखा जा सकता है जैसे कि यूरोप के सन्दभ मे मावस और नीत्शे को। क्या श्री अरविंद और गांधी के बीच उतनी दाशनिक दूरी है जितनी मावस और नीत्शे के बीच? यूरोपीय साहित्य और समालोचना म भी यूरोपीय चिंतन के विकास क्रम की इन्ही आधुनिक परिणतियो के समानान्तर परिवतन आए। भारत का आधुनिक साहित्य और समालोचना भारत के इन क्रातिकारी चिन्तको और कमर्शों के कृतित्व म किस मानी म और कहाँ तक प्रभावित हुए होगे—क्या यह एक फालतू सवाल लगता है? क्या यह पूछना भी मात्र बुद्धि विलास होगा कि इस 'कलमी एकेश्वरवादी' सस्कृति के अर्न्तविरोध का क्या हम भारत के भाव-बोध और परिस्थिति पर ज्यो का त्यो घटा सकते हैं? अगर नही, तो हमारे बुद्धिजीवन और हमारे जनतन्त्र की चुनौतियो और सभावनाओ का क्या स्वरूप बनता है? यदि, जसा आचाय शुक्ल को लगा था—'भेदो म अभेद ही सच्ची तत्व दृष्टि है', और यदि वह मानव स्वभाव की दोनो मांगो को—स्वाधीनता और प्रतिबद्धता को एक साथ सन्तुष्ट कर सकती है तो इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस दृष्टि के चलते निरकुश राज्य सत्ता म शासन नतिकता का आश्रय खोजना बिलकुल ही बेमानी है और जनतन्त्र ही उसके लिए सही राजनीतिक परिवेश है। जिस तात्विक दृष्टि म निगुण ब्रह्म क साथ साथ देवताओ के एक भरे-पूरे प्रजातन्त्र के लिए भी गुजाइश हो, उस

मानवीय प्रजातन्त्र की आधुनिक चुनौतियों का भी सामना करने में सक्षम होना ही चाहिए। मगर ऐसा तभी हो सकता है जब वह हमारा जनतन्त्र हो, मात्र पश्चिम की नकल नहीं। यही बात समालोचना पर भी लागू होती है। हमारे आलोचनात्मक विवेक के सामने यह स्पष्ट होना चाहिए कि हम जनतन्त्र क्या चाहते हैं और कैसा चाहते हैं। इस 'क्यों और 'कैसे' का विवेक आधुनिक भारत के निर्माताओं में भी था, इसका कुछ अहसास कराने के लिए मात्र दो उदाहरण काफी होंगे। एक श्री अरविन्द का और दूसरा महात्मा गाँधी का। आधुनिक भारत के इतिहास में इतनी परस्पर भिन्न और इतनी परस्पर पूरक विचार दृष्टियाँ और कहाँ मिल सकती हैं मैं नहीं जानता। तो लीजिए पहले श्री अरविन्द

स्वाधीनता समानता और जनतन्त्र जैसे विचारों को हम मात्र इसलिए ग्रहण नहीं करते कि वे यूरोपीय हैं बल्कि इसलिए कि वे मानवीय हैं इसलिए कि व आत्मा के सामने फलप्रद दृष्टिकोण रखते है और मानव जीवन के भावी विकास के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जनतन्त्र का विचार हमारे यहाँ भी किसी न किसी रूप में रहा था भले ही हम उसे उसकी तात्त्विक परिणति तक नहीं पहुचा सके। आज इसे ग्रहण करना हमारे लिए इसलिए आवश्यक है कि जो चीज जीवन और सत्ता सम्बन्धी हमारी परिकल्पना में उसके उच्चतम आशय का समर्थन करती है, उसकी ओर हम जाना ही है।

यहाँ यह बताना अनावश्यक होगा कि श्री अरविन्द क्रान्तिकारी, योगी और विचारक होने के अलावा उच्चकोटि की आलोचनात्मक प्रतिभा के भी धनी थे। उनके इस समालोचक पक्ष का परिचय हम जितना होना चाहिए उतना शायद नहीं है। महात्मा गाँधी भी अपने जीवन में और विचारों में उतने ही क्रान्तिकारी थे जितने श्री अरविन्द। अब यह बात दूसरी है कि भारत के अधिकांश बुद्धिजीवी उन्हें न क्रान्तिकारी मानते है न लेखक या विचारक ही। मगर हमारे त्रिशंकु बुद्धिजीवियों के बीच तो श्री अरविन्द की स्थिति भी मैं समझता हूँ कोई बेहतर नहीं है। चलो अच्छा है इस मामले में भी एक मत तो है दोनों में। सन् 1942 में जब सारी दुनिया में एन्टी फ़ासिस्ट सम्मेलन चल रहे थे गाँधी से भी कहा गया कि वे भी इस धर्मयुद्ध में मित्र-राष्ट्रों के प्रति अपनी पक्षधरता का सार्वजनिक इजहार करें। तो रोमाँ रोलाँ के घनिष्ठ मित्र गाँधी उस नाजुक मौके पर भी यह कहने और लिखने से नहीं चूके कि 'पश्चिम का प्रजातन्त्र भी जरा हलके रंग का नाज़ी और फासिस्ट तन्त्र ही है। जाहिर है कि यहाँ तक आते आते वे खासे मोहभंग से गुजर चुके

थे और उस प्रजातंत्र की हूबहू नकल अपने देश में नहीं देखना चाहते थे। निश्चय ही उन्नीसवीं सदी के यूरोप की सर्वश्रेष्ठ लिबरल विरासत का काफी घनिष्ठ परिचय उन्हें हो चुका था, पर उनका चिंतन और कर्म उस उदारवाद का अनुवाद कभी नहीं था। वे अपनी तरह के रेडिकल भी बने, पर उनका रेडिकलिज़्म यूरोप के लिबरलिज़्म की यूरोपीय प्रतिक्रिया में निकला रेडिकलिज़्म नहीं था। वे व्यक्ति की स्वाधीनता के प्रबलतम समर्थकों में थे पर उनके इस आग्रह का पश्चिमी 'इण्डिविडुअलिज़्म' से तनिक भी लेना देना नहीं था। वे करोड़ों गूंगे बहरों के जन्मजात प्रवक्ता थे पर उनकी यह प्रतिबद्धता किसी उधार ली गई विचारधारा और उसके मुहावरे की मुखापेक्षी नहीं थी। क्या इस तरह के जीवंत उदाहरणों से भी हमें कोई मदद नहीं मिलती कि भारत के प्रजातंत्र में समालोचना की—आलोचक विवेक की—क्या और कैसी भूमिका हो सकती है? निश्चय ही हमारे [illegible] की देहरी पर ही जिस 'आलोचक राष्ट्र' के निर्माण का सपना [illegible] का दीखा था, वह महज़ खामखयाली नहीं थी। उसकी [illegible] जा चुकी थी। हिन्द स्वराज और भारतीय संस्कृति के [illegible] उसी नींव के पत्थर नहीं हैं? और जैसी जो भी [illegible] में उस नींव पर खड़ी की है, उस नींव को [illegible] स्थिति में हैं कि वह एक स्वाधीन रूप में [illegible] की निर्मिति है?

कला और कुमारस्वामी

कला वस्तुओं के मर्मज्ञ तो हर देश और काल में काफी तादाद में मिल जायेंगे लेकिन उसके मूल स्रोतों तक जाकर मानवीय चेतना के इतिहास को मानवीय कला के इतिहास से जोड़ने और इस तरह कला के अतीत को ही नहीं, उसके वर्तमान को भी एक नए, समग्र परिप्रेक्ष्य में देख और दिखा सकने वाले मनीषी इक्के दुक्के ही होते हैं। आनन्द केंटिश कुमारस्वामी ऐसे ही विरले मनीषियों में थे जिनके बारे में जोजेफ कैम्पबेल ने लिखा है कि 'हम सब भारतीय कला के अध्येता और शोधकर्त्ता उसी अग्रज द्रष्टा के कन्धों पर खड़े हैं।' यह एक विशेषज्ञ द्वारा अपने क्षेत्र के अग्रगामी दूसरे विशेषज्ञ के कृतित्व के प्रति अर्पित श्रद्धांजलि भर नहीं है बल्कि एक ऐसा तथ्य है जिसे हम सबको — जो विशेषज्ञ नहीं हैं लेकिन आज के इस दिशाहीन और मूल्यमूढ़ समय में जीवन मूल्यों की खोज से किसी न किसी स्तर पर जुड़े हैं — हम सबको — आनन्द कुमारस्वामी के व्यक्तित्व और कृतित्व के इस प्रेरणादायी अर्थ को अपने लिए नए सिरे से जानना और पहचानना जरूरी है।

वह प्रेरणादायी अर्थ क्या है? इसके पूर्व, कि हम इस महान् व्यक्ति के कृतित्व का स्मरण करें, हम उससे जुड़े हुए इतिवृत्त को भी जन्म शताब्दी वर्ष की इस प्रारम्भ वेला में व्यक्तित्व स्मरण कर लेना होगा और ऐसा करना महज औपचारिकता न होगी क्योंकि पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक प्रेरणाओं के बीच जिस मूलभूत एकता की खोज इस कृतित्व की प्रेरणा प्रक्रिया और उपलब्धि रही है, उसी मूलभूत एकता का संकेत हम कृतिकार के नाम और इतिवृत्त में भी झलकता दिखाई दे जाता है। संयोग की ही बात है और फिर भी इस मात्र संयोग में मानो एक नियतिकृत और सुनिर्दिष्ट भावी का संकेत निहित था कि सिंहलद्वीपी पिता और स्काटिश माता की संतान आनन्द केंटिश कुमारस्वामी की शिक्षा दीक्षा यूरोपीय सभ्यता के गढ़ इंग्लैण्ड में हुई, कर्मभूमि उसे *इतिहास बोझ से मुक्त मूल मानव अधिकारों की घोषणा* करने वाले अमरीका ने प्रदान की और उस कर्म को अर्थात्—कला की जमीन पर मानव एकता का स्वप्न और सत्य देखने की साधना को प्रेरणा दी भारत ने।

नई दुनिया के कोण से पुरानी दुनिया की यह खोज जहा एक ओर पश्चिमी प्रतिभा की एकाग्र, वस्तुपरक वैज्ञानिकता से प्रेरित थी, वहीं उसमें पूरब की अभेद दृष्टि भी बड़े सहज और स्वभाव सिद्ध ढग से प्रतिफलित हुई। भारतीय पुरातत्व, धर्म दर्शन, मूर्तिकला, स्थापत्य, चित्रकला और साहित्य पर अनेक मौलिक और स्थायी महत्व के ग्रन्थो की रचना करते हुए उन्होंने सगीत, विज्ञान और इस्लामी कला पर भी अनेक विचारोत्तेजक निबन्ध लिखे। 9 सितम्बर 1947 को उनकी इहलीला समाप्त हुई। तब तक उनके प्रिय भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता का स्वप्न साकार हो चुका था। लेकिन भारत की जिस सृजनात्मक स्वतन्त्रता का साक्षात्कार उन्होंने उसके अतीत मे किया था और स्वदेशी के माध्यम से उसके पुनर्विस्फोट का स्वप्न उसके पराधीन वर्तमान के भीतर किया था, वह उनके उच्चतम मानदण्डो को देखते हुए अभी अधूरा ही है।

ये मानदण्ड ऐसे है जिन पर स्वय कुमारस्वामी का कृतित्व खरा उतरता है क्योंकि 'पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य' वाली कालीदासीय कल्पना को चरितार्थ कर सके, ऐसी विद्वत्ता भी उन्ही मे देखने को मिली। प्राचीन आचार्यों की सूत्रशैली तथा निर्वैयक्तिक एकाग्रता को अधुनातन ज्ञान सन्दर्भों मे अवतारणा करती हुई कुमारस्वामी की यह विद्वत्ता जहाँ एक ओर उच्च कोटि की दार्शनिक समझ से आलोकित है वही, दूसरी ओर वह वास्तविक जीवन-सदर्भों पर भी बराबर अपनी पकड बनाए रखती है। आज का आधुनिकोत्तर चिंतन जिस परम्परा के मूल्य को अब जाकर समझने लगा है, कुमारस्वामी की मूलगामी एव अग्रगामी संवेदना ने मानो उसे अर्द्धशती पूर्व ही भाँप लिया था।

कुमारस्वामी का कला चिंतन जीवन और पुरुषार्थ विषयक उनकी मौलिक चिन्ता का ही प्रतिफलन है। कला सृजन को व मानव समाज की एक बुनियादी जरूरत के रूप मे देखते हैं। भारतीय जीवन मे कला की वह वैसी ही जीवन्त भूमिका अब भी देखना चाहते हैं, जैसी वह हमेशा अभी हाल तक रही थी। 'कला कला के लिए' जैसी मान्यताओं का उन्होंने अपने लेखों मे मात्र खण्डन ही नहीं किया है, बल्कि कला 'शिल्पकर्माणि' को मूलत उपयोगी वस्तु माना है और उपयोगिता तथा कलात्मकता के द्वैत को अन्तर्विघटित समाज का, सच्ची सृजनात्मकता से भ्रष्ट हो चुके समाज का लक्षण माना है। उन्होंने प्रारम्भ मे ही प्राचीन भारत मे स्वयसिद्ध रूप से स्वीकृत इस तथ्य को रेखांकित कर दिया है कि एक सच्चे शिल्पकर्म मे शिल्पी के दृष्टिकोण से जो आन्तरिक कलात्मक सौष्ठव निहित होगा वही उस शिल्प

व उपभोक्ता की दृष्टि म उसका उपयोग–मूल्य अर्थात् 'योग्यता' या 'पुण्यता' होगी। कौशीतकी उपनिषद् के इस सूत्र वाक्य को उद्धत करत हुए कि 'सारी अभिव्यक्तिया चाहे व मनुष्यकृत हो, चाहे अतिमानुषी श्रुतिमूलक सब एक ही साध्य स निर्दिष्ट होती हैं और वह साध्य वह अलक्ष्य प्रयोजन को प्रत्येक अभिव्यक्ति स बडा और उसक परे होता है', उनका विचार है कि कलाकृति की प्रेरणा और प्रयोजन इसी परम प्रयोजन के मल म हो सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार भी जसा उद्देश्य होगा वसा ही कम होगा, दूसरे शब्दो म साध्य के अनुसार ही साधना होगी। (यत्क्रतु तत्कम)

इस प्रकार 'शुद्ध कला या 'ललित कला या व्यवहार कला जसी परिभाषाएँ अत्यन्त सीमित अवधारणाएँ हैं जिनका वास्तव म कोई अलग अस्तित्व है नही। प्रत्येक कलाकृति नामवत (अर्थात नामात्मक) भी होती है और 'रूपवत् (अर्थात् भौतिक व इन्द्रिय प्रत्यक्ष) भी। वास्तव म कलाकृतिया की साथकता इसी बात म है कि व जीवात्मा मनुष्य को उसक अन्नमय कोष म भी परिपुष्ट करें और उसके मनोमय कोष म भी सघटित करें। कला की अन्नमयता इससे सिद्ध होती है कि सचेतन आत्मा का जो जीव पक्ष है—पशु के समकक्ष, वह अन्न पर टिका है कलाकृति अन्नमय यू है कि मनुष्य उसके द्वारा अपने अभिलषित उद्देश्यो की पूर्ति करता है। दूसरी ओर मानव चूंकि सिफ पशु जीव ही नही है, व्यक्ति अर्थात् पुरुष भी है, अत अन्नमय कोष द्वारा अभिलषित उद्देश्यो के अलावा भी उसके मनोमय और विज्ञानमय कोष की कई दूसरी अभिलाषाए और उद्देश्य भी स्वय सिद्ध हैं, जिन्ह कि शास्त्रकारो ने पुरुषाथ कहा है यानी पुरुष होने का अथ। इस अथ की सिद्धि म कलाकृतिया साधनरूप होती है क्योकि स्वय कलाकृतिया उसी अथ से या कि उस अथ को समेटने वाले वृहत्तर अथ और प्रयोजन से (जो कि सृष्टि की समस्त अभिव्यक्तिया का साध्य या परमगति है) उससे प्रेरित और निर्मित होती हैं।

इस प्रकार भारतीय कला की लौकिक साथकता का भारतीय श्रुति एव स्मृति साहित्य के भीतर से ही विवेचन करत हुए आनन्द कुमारस्वामी ने कला और मानव जीवन के अनिवाय सबध का विशद प्रतिपादन किया है। ध्यान देने की बात है कि उनके इस चिंतन मे परम्परा की मनमानी व्याख्या या अथ की खींचतान कही नही है। सरलीकरण, इच्छित चिंतन या मतवादी घपला उनके यहा बिल्कुल नही है। उनकी चिंतन प्रक्रिया मानवीय अथ के चिंतन की — अत उसके पुनराविष्कार की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया म व न तो द्वैत दृष्टि की खींचतान करते है, न अद्वैत दृष्टि की मूल प्रतिज्ञाओ से किसी

तरह का समझौता या पलायन। एक सच्चे खोजी की तरह न तो वे नवीनता से आतंकित हैं, न प्राचीनता से। कला के चिंतन में धर्म तत्व और दर्शन के सूत्रों का उपयोग एक आग्रही बुद्धि को सरलीकरणों की ओर ले जा सकता है। कुमारस्वामी की सजग जिज्ञासु बुद्धि यदि इस ओर से हमें सदा आश्वस्त रखती है तो इसका कारण यह है कि वे स्वयं एक सच्चे और गहरे अर्थ में दार्शनिक (तत्वचिंता, बुनियादी चिंतन के अर्थ में) जिज्ञासा से उन्मथित हैं। इसीलिये वे हर बार सीधे स्रोत तक जाते हैं पुष्टि के लिए नहीं, खण्डन मण्डन के लिए नहीं, बल्कि प्रकाश के लिये अभिव्यक्ति के लिये। इसीलिये उनके चिंतन में वह खुलापन है जो स्रोत में होता है। इसीलिये वे अपने द्वारा व्यवहृत प्रत्येक पारिभाषिक शब्द और अवधारणा को अधिकाधिक पारदर्शी बनाते जाते हैं ताकि उनका अभिप्रेत कहीं से भी धुंधलाए नहीं। इसी से उनके विचारों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करना अत्यंत कठिन पड़ता है। भारतीय जीवन में कला की भूमिका पर जब वे विचार करने चलते हैं तो उन्हें एक ओर तो कलात्मक उत्कृष्टता के उच्चतम प्रतिमानों की रक्षा बिना कलाकार को हाथीदांत की मीनार में बिठाए करनी है और दूसरी ओर जीवन व्यवहार के स्थूलतम व्यापारों से भी कला को जोड़े रखना है। आरम्भ ही वे कला की परिभाषा से करते हैं 'कलाकृतियां या शिल्पकर्म क्या हैं?' कलाकृतियाँ अस्तित्व या कि कह लीजिए, आजीविका के वे साधन हैं जिनको कि कलाकार रूपी मनुष्य (शास्त्र की शब्दावली में शिल्पी' 'कारक' 'कवि' इत्यादि) सरक्षक या दर्शक रूपी मनुष्य की जरूरतों—मांगों की पूर्ति हेतु बनाता है। इस 'बनाने' के लिए 'कृत' या 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस पर कुमारस्वामी की टिप्पणी देखिए 'बनाना और करना, आर्ट और एथिक्स कलाकार के लिए दो अलग चीजें न होकर एक और अविभाज्य हैं क्योंकि 'बनाना' ही कलाकार का कर्म (शास्त्रीय शब्दावली में 'स्वधर्म' या 'स्वकार्य') है। कलाकार मनुष्य की कोई विलक्षण कोटि नहीं है। बल्कि हर आदमी, अपने कर्म में या कम से कम किन्हीं किन्हीं अवसरों और किसी न किसी हैसियत में—एक अलग किस्म का कलाकार अवश्य है।'

यदि जीवन का संचार अन्नमय कोष से लगाकर मनोमय और उसे भी अतिक्रांत करते हुए आनन्दमय कोष तक है तो कलात्मक उपक्रम से प्रत्येक स्तर के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा होना चाहिए। तभी इसकी सार्थकता और जीवन-सापेक्षता प्रमाणित हो सकती है। मानवीय जीवन और कला के सम्बन्ध में मौलिक मन्थन करने वाले कुमारस्वामी यदि यहाँ पर भारतीय मूल्य-दृष्टि के कायल हैं तो यह इसलिये नहीं कि एक जीवित परम्परा का

प्रकाश उन्हे अनायास ही उपलब्ध है बल्कि इसलिए कि उनका स्वय का विवेक कला मूल्यो और जीवन मूल्यो के जिस अद्वत को पाने के लिए वेचन है, वह उन्हे निरन्तर अनुसधान की प्रेरणा देता है। विवेक की यह चिनगारी ही उन्हे अँधेरे मे रास्ते का सकेत देती है और इस रास्ते पर अपने ही पैरो चलते हुए वे उन चिनगारियो को पकडते हैं जो अस्तित्व के बुनियादी प्रश्नो से जूझते हुए मनुष्यो ने किसी समय अपनी चेतना मे पकडी और लिपिबद्ध की थी। कलाकृति तथाकथित सरसता के विलास की सामग्री भी तो बन जा सकती है। तब कला की इस अप्रमेय व्याख्या को स्वीकार करते हुए उसे उसमे निहित या सभाव्य विलासमय परिणति से कैसे उबारा जाय? यह प्रश्न जब कुमारस्वामी के भीतर उठता है तो वे आत्मविश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि 'अन्न रूपी शिल्प कर्म की विलासितामूलक परिणति तभी दिमाग मे आ सकती है जब कला के सरगर्भ की भूख या प्रवृत्ति (काम) मानवीय अर्थ का अतिक्रमण कर जाय अर्थात् पुरुषार्थ विसवादी बन जाय। मनुष्य जीने के लिये अन्न ग्रहण करता है, इसलिये उसकी अन्नाहार की स्वाभाविक प्रवृत्ति मे विकार तभी आएगा, अन्नलुब्ध वह तभी कहलाएगा जब वह जीवन उद्देश्य और जीवन प्रक्रिया के स्वाभाविक सबन्ध को खण्डित करेगा अर्थात् खाने के लिये जीने लगेगा। यहा पर जमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण का यह दृष्टान्त किस खूबी से सन्दर्भित होता है! 'प्रजापति ने सृष्टि के उपरान्त अपने बच्चो से पूछा - तुम्हारी क्या इच्छाएँ हैं?' मनुष्यो ने उत्तर दिया – 'अन्नाद्यकाम'। हमारी इच्छा अन्नभक्षण करने की है। तो प्रजापति ने उन्हे साम वेद का आहार दिया।' यह दृष्टान्त प्रस्तुत करने के बाद कुमारस्वामी कहते है कि यह साम वेद 'शिल्प कर्म' है अर्थात् वह अभिव्यक्त कला जो कि जीवन का अग बनती है, जबकि ऋग्वेद वह 'शिल्प' है जो अभी कलाकार के भीतर अव्यक्त है, जब तक कि वह उच्चरित होकर व्यक्त नहीं हो जाता। भूख या इच्छाएँ जीवन की वे जरूरतें हैं जो उस जीव की जाति के अनुसार निर्धारित होती हैं। इस तरह इस भूख की नैतिकता और जीवन-मात्र अर्थात् अस्तित्व की नैतिकता एक और अविभाज्य है। यह विवेक अपने ही जोर से एक ओर तो गीता के इस सूत्र का खीचता है कि 'धर्माविरुद्धो कामोऽस्मि भूतपु भरतर्षभ' और दूसरी ओर वह पुराणो की इस कथा मे निहित मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से भी जुड जाता है कि 'इच्छा या काम धर्म और श्रद्धा के मेल मे उत्पन्न सतान है, इसके विपरीत लोभ दम्भ और पुष्टि के सयोग का फल है। खोज प्रक्रिया के इस एक ही उदाहरण से यह समझ पाना कठिन न होगा कि कुमारस्वामी का कला चितन किस कोटि की

अर्थान्वेषिणी चेतना से निष्पन्न होता है। उन्ह उस बुनियादी सवाद की खोज है जो कला को जीवन और मृत्यु दोनो के सन्दर्भ मे सार्थक करे। इसीलिए उन्होने शिल्पकर्म को एक छोर पर प्रकृति के रूपो से और दूसरे छोर पर देवशिल्पो से अलगाया है और साथ ही उसकी मानवीय सत्ता का अतिमानवीय और प्राकृतिक दानो के साथ आत्मीय ढग से जोडा है। देवशिल्प केवल बुद्धिगम्य या ध्यानगम्य हैं जबकि प्रकृति के रूपाकार प्रत्यक्ष सवेदना के विषय है। मानवीय शिल्प कर्म मे दोनो का योग है। उसकी स्थिति अतिप्राकृत और प्राकृत के बीच एक मध्यवर्ती की स्थिति है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि कुमारस्वामी कला और शिल्प उद्योग के बीच चौडी होती जाती दरार से अत्यन्त क्षुब्ध थे। उन्होने बलपूर्वक इस तथ्य को रेखाकित किया है कि भारत मे 'ललित' और 'व्यावहारिक' का विभाजन केवल साहित्य और नृत्य तक सीमित रखा गया है।

मात्र 'लयात्मक हलचल' को 'नृत्त' कहा गया और 'नृत्य' की सज्ञा पाने के लिए उसका किसी ठोस 'वस्तु' का निदर्शन करना अनिवार्य माना गया। इसी तरह मात्र घटित कथन को इतिहास और रसात्मक कथन को काव्य माना गया। कला के क्षेत्र मे यह विभाजन नही किया गया और यह अकारण नही है। कुमारस्वामी का विचार है कि इस बात पर कभी मतैक्य हो ही नही सकता कि कला कहा समाप्त हुई और उद्योग कहा शुरू हुआ। ये जो दो कोटिया उच्चतर कला के नाम पर कला की और हीनतर उपयोगधर्मी कला के नाम पर तथाकथित शिल्पकारी या उद्योग धन्धे की खडी की गयी है कुमारस्वामी के कथनानुसार काल्पनिक और अनधिकृत हैं। आज के तथाकथित कलाकार के सामाजिक विलगाव की चर्चा करते हुए उन्होंने उनकी तुलना मज्झिम निकाय मे वर्णित उस आदमी से की है जो चित्र बनाने की सारी सामग्री लेकर हवा पर चित्र आँकने आता है। (आकाश रूपम् लिखेय्य) साथ ही उन्होंने रस्किन के इस विचार को भी उद्धृत किया है कि 'कला से विरहित उद्योग पाशविकता है।' समस्या के दोनो पहलुओ के प्रति यह चिन्तक सावधान है।

कुमारस्वामी की यह जीवन सापेक्ष और उपयोगी 'कला अपनी प्रक्रिया के रहस्य' को भी स्पष्ट करती है किन्तु वहाँ भी हर सभाव्य सरलीकरण और सपाटपन से बचकर। रचना प्रक्रिया या कि शिल्प कर्म का भारत मे जिस तरह उसके दो तात्त्विक पहलुओ मे देखा और विवेचित किया गया, 'मन्त्र शक्ति' और 'उत्साह शक्ति' की शब्दावली मे, उससे कुमारस्वामी का विवेक पूरी तरह आश्वस्त हुआ। यहा पर 'शुक्रनीतिसार' का अध्ययन उनके

बहुत उपयोगी साबित हुआ। मूर्तिकार को मदिर म प्रयोग की जान वाली प्रतिमाओ का निर्माण करने के लिए स्वाराध्य देवता के अनुरूप ध्यान करना चाहिए। प्रतिमा कारक इस ध्यान योग को सफलतापूवक साध सके, इसके लिए स्मृतियो म प्रतिमा लक्षणो का निर्देश किया गया है। ताकि मूर्तिकार मूर्ति की चाक्षुप कल्पना म प्रवीण हो सके। प्रत्यक्ष माडल को सामन रख कर मूर्ति की रचना नही हो सकती ध्यान के द्वारा ही सच्ची निर्मिति सभव है। 'मूर्तिकार को चाहिए कि मन को सारी बाह्य प्रवृत्तिया से खीचकर अपन 'अ तह्र दयाकाश मे उस बुद्धिगम्य मति की—'आनसत्व रूप की—एकाग्र धारणा करे और अपने को उसके साथ तदात्म करे। ('तदात्मान ध्यायेत्') और जब तक आवश्यक हो तब तक इस ध्यान मे रमा रह, इस सम्यक ध्यान के उपरा त ही वह उस ध्यान प्रत्यक्ष रूप को पत्थर, धातु या रगो मे साकार करन मे प्रवत्त हो।

कला कम का यह सिद्धा त निश्चय ही 'रेप्रेजे टेटिव आट' के विरुद्ध जाता है और कुमारस्वामी ने यह भी समझने की कोशिश की है कि क्यो इस्लाम मे 'रेप्रेजे टेटिव आट' की भत्सना की गई है। कारण स्पष्ट ही यह है कि वसी अनुकरणमूलक कला जीवन की सतही और प्रतीयमान चीजो को ही पकड सकती है जीवन की वास्तविकता उससे छूट जाती है। ऐसी प्रतिकृतिया तयार करते हुए शिल्पकार विश्वकर्मा ईश्वर की तरह अपने भीतर से बाहर की ओर नही रच रहा है वह साधक रूपाकारो ('नामानि') से प्रेरणा नहीं पा रहा है बल्कि प्रतीयमान यथाथ के कुछ पहलुआ को ही पकड रहा है। और चूकि वह इन पहलुआ को जीवन से उठाकर बदले म उन पर एक सादश्य भर थोप रहा है, अत वह दरअसल वस्तुओ की उनकी उस वास्तविक सत्ता से वचित कर रहा है जो कि जीवन की सारभूत आत्मा (रुह प्राण) से ही निर्मित और निर्धारित है। हिंदू बौद्ध या जन चितन भी अनुकरणमूलक कला को कला के रूप म उतना ही भत्सनीय मानता है। पर शुद्ध धार्मिक दाशनिक आधार पर उतना नही जितना की ऐसी कला म निहित 'थीम' की सासारिकता भोगवादिता के कारण। कुमारस्वामी जस आधुनिक कला चितक, जो भारतीय सिद्धा त से सहमत हैं, रेप्रेजे टेटिव आट की भत्सना इसलिए करत हैं कि ऐसी कला का चरित्र सूचनात्मक, तथ्यपरक (शास्त्रीय शब्दावली म 'व्युत्पत्ति मात्र') होता है और वह दशक को उसके व्यक्तिगत भाव सवेदनात्मक प्रतिक्रियाआ की उत्तेजना तक ही सीमित कर देता है। हिन्दू मूर्ति यथाथवादी कला नही है। व्यक्त मूर्ति होत हुए भी वह अमूत और अव्यक्त की भावना है। भारतीय कला प्रकृति का अनुकरण न होकर उसका रूपा तरण है।

इस प्रकार कुमारस्वामी ने कला को उपयोगितावादी दृष्टि से ('व्यापार-मात्र') भी विवेचित किया है और साधक विशिष्ट साधना की दृष्टि से भी। और दोनो म अभेद प्रतिपादित किया है। चूंकि मूर्ति लोकोत्तर और अव्यक्त के ध्यान से निर्मित हुई है, अत सहृदय दशक भी तादात्म्य प्रक्रिया द्वारा उस अनुभूति को पा सकता है और इस प्रकार मूर्ति का रसास्वादन सभव होता है। यह रसास्वादन वेद्यान्तर-स्पश शून्य होते हुए भी आनन्द चिन्मय रूप, लोकोत्तर, अखण्ड और स्व प्रमाण होता है। इसीलिए इसे 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' कहा गया है। कलाकार अपने कम का उद्देश्य वस्तु से प्रारम्भ करता है और अभिव्यक्ति से पूव उसका वस्तु के साथ तादात्म्य हो जाना अनिवाय समझा गया है। इसी कारण विपरीत न्याय से दशक भी मूर्ति की वस्तु सत्ता मे लवलीन होकर उसकी अथ भावना के जरिये ही उसके सौन्दय का साक्षात्कार कर सकता है। कुमारस्वामी के अनुसार 'जिस प्रकार भारत मे 'कलाकार' की अवधारणा को विश्वकर्मा देवता के परम पुरुष रूप मे चरिताथ किया गया है, उसी पूणता के साथ दशक की अवधारणा को भी आत्मा, पुरुष-आत्मा के रूप मे चरिताथ किया गया है, जो कि अद्वैत-दशन कर रहा है।' 'स्वात्मा निरूपण' नामक ग्रथ का हवाला देते हुए कुमारस्वामी इस नतीजे पर पहुचते हैं कि सच्चा पूण रसास्वादक कलाकार वही है जो आत्मा के विशाल फलक पर इस रगारग सृष्टि के सम्पूण वविध्य को आत्मरूप मे ही साक्षात्कार कर रहा है और इसमे महान् आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर रहा है।'

इस प्रकार आनन्द कुमारस्वामी के अनुसार कला या शिल्पकम आदमी की हर जरूरत पूरी करता है चाहे वह जरूरत प्रवृत्तिगत हो चाहे निवृत्तिगत। क्योंकि कला-कम कलाकार, तथा सहृदय दशक दोनो के लिए साधना का एक माग है। आत्म साक्षात्कार का एक माध्यम। भारतीय कला साधना के इस मम को कुमारस्वामी ने जिस तरह समझा और समझाया है, वह अपने आप म एक अत्यन्त मार्मिक अथ मे — पाश्चात्यो से कहीं अधिक स्वय भारतीयो के लिये प्रासगिक है। वे किसी मौलिक दृष्टि या व्याख्या का दावा पश नही करते, बल्कि अपने उद्देश्य ('काय स्वाय') की राह मे इस प्रकार की व्यक्तिगत रुचियो और मान्यताओ को बाधक समझते हैं। उनके अनुसार कलात्मक सृजन या चिंतन का मूल्य उसम निहित मानव मूल्य (अर्थात् पुरुषाथ) से ही निर्धारित होता है। कला की समझ या विचक्षणत्व सिफ अध्ययन या कला वस्तुओ के सग्रह मे प्राप्त नही होता। समूचे व्यक्तित्व के पुन सस्कार के द्वारा ही वह सभव है। दशक का आस्वादकत्व भी

कलाकार मे कौशल की तरह एक अर्जन है, मात्र शिक्षण नहीं। आज के जो संग्राहक और कलाप्रेमी कलाकृतियों की सार्थकता संग्रहालयों और दीर्घाओं तक पहुँच जाना भर मानते हैं उन्हें उस कलाकार को सिखाने की नहीं, बल्कि उससे सीखने की जरूरत है जिसकी निर्मितियाँ पूजित और प्रयुक्त हैं जीवित मानवों द्वारा।

आज की स्थिति पर विचार करते हुए कुमारस्वामी का कहना है कि हमारी यह वर्तमान दरिद्रता विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व है। इसका मन्तव्य यह नहीं है कि हमारा पुरुषार्थ चुक गया है बल्कि यह है कि पुरुषत्व का कोई एक विशिष्ट पहलू ही हम खो चुके हैं। भारतीय परिस्थिति पर उनकी टिप्पणी यह है कि हमारा तथाकथित पुनर्जागरण सिर्फ प्राचीन शैलियों का अनुकरण है, प्राचीन अर्थों का अपने लिए पुनराविष्कार नहीं। हालत यहाँ तक पहुँच चुकी है कि हमारी अपनी जातीय प्रतिभा स्वयं हमारे लिए सिर्फ नृतत्वशास्त्रीय और ऐतिहासिक शोध में इस्तेमाल हो सकने वाला कच्चा माल बन कर रह गयी है। इससे अधिक विचलित करने वाली टिप्पणी और क्या होगी! पर क्या यह एक कड़वी सचाई ही नहीं है।

इस दुर्गति या कि विकृति को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए कुमारस्वामी ने प्राचीन भारतीय कला में कमल के प्रतीक-रूपांकन की तुलना आज के चित्रों में चित्रित कमल से की है और इस चित्रण को ह्रासशील निरूपित किया है। इसी तरह व्यक्तियों की सादृश्यमूलक प्रस्तर मूर्तियों के प्रति बढ़ रहे आकर्षण को भी 'डिकेडेंस' का ही सबूत उन्होंने माना है। इसी तरह नक्शे में भारतमाता की मूर्ति या चित्र भी एक सामान्य स्त्री के सर पर भारत के मानचित्र रूपी प्रतीक का मनमाना आरोपण भर है। इस पर कुमारस्वामी की टिप्पणी है कि ऐसे आहार पर सिर्फ राजनीतिज्ञ को ही टिकाया जा सकता है। वह जो उस माता को दुनिया के नक्शे में उसकी स्थिति से ज्यादा प्यार करता है वह तो इस आहार से सूख ही जायगा क्योंकि वह उसे पचेगा नहीं। उस भोंडे आरोपण में निहित 'विरुद्धत्व और अनिर्देशत्व' उसकी पाचनक्रिया को ही अवरुद्ध कर देंगे। यह ठीक है कि देखने वाले का भाव कभी कभी मूर्ति के दोष को भी लाँघ जाता है मगर दर्शक की यह उदारता चित्रकार या मूर्तिकार के स्खलन की क्षमा नहीं है। कलाकार को सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि—जानना क्या यह उसके स्वधर्म का ही तकाजा है कि कलावस्तु कैसे बनायी जाती है? कलात्म है क्या?

कला के क्षेत्र में व्याप्त यह ह्रास और विघटन कुमारस्वामी के शब्दों में हमारे

जीवन की अँधेरी दुर्व्यवस्था को प्रकट करता है।' क्या इस तिमिराच्छन्न जड़ता के बीच जीवन का कोई चिह्न, पुनः संघटन का कोई संकेत है? एक भी कोई ऐसी कला है जो हमारी सम्पूर्ण मनुष्यता, संपूर्ण भारतीयता को प्रकट कर सके?' प्रश्न कुमारस्वामी का है और उत्तर भी उन्हीं का है कि—हाँ श्रुति और परम्परा के प्रतिमानों पर से इस प्रश्न का उत्तर देने को कहा जाये तो मैं कहूँगा—'हाँ। चरखे से काते जाने वाले खद्दर में मैं उस संभावना के दर्शन करता हूँ। प्रागैतिहासिक प्राचीनता वाली यह कला ही सच्चे अर्थों में आज हमारे लिए एक सचमुच नया, सचमुच का अनुभव है। यही वह एकमात्र कला है जो हमारे श्रुति और स्मृति परम्परागत प्रतिमानों के साक्ष्य पर सही उतरती है क्योंकि यह हमारे अमुक अमुक उद्देश्यों की पूर्ति करती है, हमारे देश काल में जो मानव मूल्य निहित हैं, उनकी सेवा, उनकी रक्षा-संवर्धना इससे हो सकती है। यही एक ऐसी कला है जो व्यावहारिक उपयोग यानी अन्नमय कोष के स्तर पर हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है और इसके साथ ही साथ वह उस परम शक्ति या सत्ता की सगुण मूर्ति भी है जिसे हम सदा उसके ऐश्वर्यमण्डित रूप में नहीं बल्कि आत्यन्तिक सरलता में भी पूजते हैं। हम खद्दर के पास किसी सुरुचि के आग्रह से नहीं आए, न यह कोई बाहर से ओढ़ी हुई दरिद्रता या सवहारापन है। देवत्व की अकिंचनता का — दरिद्रनारायण का — अनुसरण करना उसी आदमी के लिए संभव था जिसके आचरण में और जीवन प्रक्रिया में बौद्ध विहारों जैसी सादगी और निर्मलता आ चुकी हो। आज जब हम अपने उस निर्णय की सार्थकता को अच्छी तरह समझने की स्थिति में हैं, हम स्पष्ट महसूस करते हैं कि इसके अलावा और कोई कर्म हमें शोभा नहीं देता, हमारे स्वधर्म के अनुकूल न होता।

कुमारस्वामी का उपरोक्त कथन आज से कोई तीस चालीस वर्ष पूर्व का होगा। पर क्या आज भी हमारे दिलो दिमाग में इसकी प्रतिध्वनि नहीं उठती? कुमारस्वामी ने एक दर्जन से ऊपर ग्रन्थों की रचना की, जिसमें कला और स्वदेशी नामक ग्रन्थ भी है। उनका भारतीय और हिन्देशियाई कला का इतिहास अपने विषय का सबसे अधिक मान्य और प्रतिष्ठित ग्रन्थ है जो हाइनरिख त्सिमर जैसे विश्वविश्रुत विद्वानों की पाठ्य पुस्तक थी। इस ग्रन्थ में कुमारस्वामी ने प्रभाव ग्रहण की ढर्रेवाली दृष्टि की बजाय एक नयी दृष्टि सामने रखी है। उन्होंने सुमेरियन काल के आस पास एक प्रारंभिक एशियाई कला की अवधारणा को बड़े तर्कसंगत रूप में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि कला के इतिहास के इस सोपान की सारी उपलब्धियाँ एशिया और यूरोप

की उभयनिष्ठ विरासत है और परवर्ती शाखाओं पर आज तक कला के इतिहास में जो भी कला रूप भारत में या अन्यत्र प्रादुर्भूत हुए, उन्हें भी इसी स्रोत से जोड़कर समानान्तर और परस्पर सम्बद्ध एक ही कुल गोत्र की शाखाओं के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए न कि दाता और ग्रहीता की सरलीकृत और गदाई नज़्मावली में।

इस विलक्षण इतिहास ग्रन्थ के अलावा भी कुमारस्वामी की अनेक महत्वपूर्ण देनें हैं जिनमें ट्रांसफॉर्मेशन आव नेचर इन आर्ट, क्रिश्चियन एण्ड ओरिएण्टल फिलासफी आव आर्ट, एलीमेण्टस आॅव बुद्धिस्टिक आइकनोग्रफी तथा ए न्यू एप्रोच टू द वेदाज़ का उल्लेख खास तौर पर जरूरी है। गहन चिन्तन मन्थन के उपरान्त आनन्द कुमारस्वामी दो महत्वपूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचे थे। एक तो यह कि बौद्धधर्म और बौद्धकला को भारतीय धर्म और भारतीय कला की मुख्य धारा से अलग करना असंभव है बौद्ध प्रतीकों का एकाग्र अध्ययन हमें यह विश्वास दिलाता है कि ये प्रतीक अकस्मात् शून्य में से पैदा नहीं हुए। इस अनुभूति से कुमारस्वामी को उन तमाम प्रतीकों का शोध नए दृष्टिकोण से करने की प्रेरणा हुई जो कि भारतवर्ष के समूचे प्रारंभिक वैदिक साहित्य में ओतप्रोत हैं। वे खोजना चाहते थे कि कहीं ऐसा तो नहीं कि जो अवधारणाएँ प्रतीकों संकेतों के बीज रूप में इस तमाम वैदिक साहित्य में व्यक्त हुई हैं उन्हीं अवधारणाओं को मूर्त अभिव्यक्ति पहले पहल बौद्धकला में मिली हो।

कुमारस्वामी की दूसरी खोज यह थी कि उन्होंने संत टामस मास्टर एक्हार्ट, जेकब बोहमे जैसे मध्यकालीन ईसाई धर्मतत्वज्ञों और रहस्यवादियों के लेखन में बहुत सारी ऐसी बातें मिलीं जो ऋग्वेद के कई अंशों में पायी जाने वाली बातों से मिलती जुलती थीं। यह सादृश्य महज़ संयोग कहके नहीं टाला जा सकता था क्योंकि उन ईसाई चिन्तकों के वाक्य उन्हें मानो ऋग्वैदिक ऋषियों के सूक्तों के अक्षरशः अनुवाद जैसे प्रतीत होते थे। इससे कुमारस्वामी के भीतर यह प्रतीति दृढ़ हुई कि रहस्यात्मक धर्म तत्व सारे संसार में एक समान है और मध्यकालीन ईसाई धर्मतत्व चिंतन की अवधारणाओं को प्राचीनतम भारतीय धर्म तत्व की सम्यक समझ के लिए औजार की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। आम धारणा उन दिनों यही थी कि ऋग्वेद और उपनिषदों के बीच कोई अटूट चिन्तन धारा नहीं है और इन कृतियों का एक दूसरे से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। कुमारस्वामी ने इस धारणा का खण्डन किया। उनकी बुद्धिस्ट आइकनोग्रफी वाली पुस्तक भी बौद्ध कला के बुनियादी प्रतीकों का स्रोत वेदों खासकर ऋग्वेद में खोजती है और यह दिखलाती है कि ये प्रतीक (अश्वत्थ कमल धर्मचक्र अग्नि स्तम्भ आदि) एक

सनातन और सार्वभौम भारतीय प्रतीक व्यवस्था और धार्मिक दार्शनिक अवधारणाओं का पूरा प्रतिनिधित्व करते हैं।

कहते हैं कुमारस्वामी ने एक बार अमरीका में प्रवासी भारतीय छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा था—'आप लोग यहाँ कुछ लेने ही लेने आते हैं कि कुछ देने के लिए भी अपने साथ लाते हैं ?' पता नहीं उन छात्रों की इस पर क्या प्रतिक्रिया हुई। किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में लेने और देने का क्या अर्थ होता है, इसका मर्म कुमारस्वामी अच्छी तरह समझते थे और इसलिए यह प्रश्न पूछने का अधिकार उन्हें, सिर्फ उन्हें था।

कुमारस्वामी शताब्दी वर्ष के दौरान साक्षात्कार में प्रकाशित

साहित्य और आधुनिक संवेदन

साहित्य की सबसे बड़ी उपयोगिता या सार्थकता इस बात में मानी गई है कि वह हमारे संवेदन का विस्तार करता है। इस पर सवाल उठता है कि हमें क्या पड़ी है कि हम अपने संवेदन का विस्तार करें? संवेदन तो जीव मात्र की मजबूरी है सिवाय गहरी निःस्वप्न नींद की घड़ियों के, एक क्षण भी हमारे अस्तित्व का ऐसा नहीं जब हमारी इंद्रियाँ मन और बुद्धि किसी न किसी संवेदन की गिरफ्त में नहीं आती। इस गिरफ्त से छूटने का एक रास्ता तो यही हो सकता है कि हम इस संवेदनशीलता को ही नकारें जो कि हमें इस चक्कर में डालती है। और इस तरह लपेट खोलते हुए उस प्राक् संवेदन स्थिति को प्राप्त हों जहाँ प्रकृति नहीं है, सिर्फ पुरुष है — अनादि अनंत और अविकार्य। हिंदुस्तान के अनुभव में इस रास्ते चलने वालों की भी कोई कमी नहीं रही। नकार का रास्ता भी अपनी चरमता में वीरोचित ही लगता रहा अंग्रेज़ी के एक बहुत बड़े आधुनिक कवि ने जिसे 'ईश्वर प्राप्ति की उतावली (Seeking God too soon) कहा है वह भी है तो आखिर पुरुषार्थ ही। मगर इसके ठीक उल्टे रास्ते का तर्क भी उतनी ही दुर्निवारता के साथ हिंदुस्तान के सिर पर चढ़कर बोला कि स्वीकार के जरिये भी वही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है और मनुष्य के लिए सहज मार्ग भी यही है संवेदन सिर्फ प्रकृति का ही नहीं पुरुष का भी अर्थ है और अन्नमय कोश में लगाकर आनन्दमय कोश तक की यात्रा उसके साथ निर्विघ्न हो सकती है।

आँख न रूँधौं कान न रूँधौं
तनिक कष्ट नहिं धारौं
खुले नैन पहिचानौ हँसि हँसि
सुंदर रूप निहारौं (कबीर)

किसका रूप है यह जिसे खुली आँख पहचानने और निहारने की ललक यहाँ अभिव्यक्त की गई है? कुछ इस तरह माना वह सुन्दर रूप ही सार हो तत्व हो। दार्शनिक मनीषा से हमने जिस साक्षी को अपने भीतर पहचाना था वह हमें काफी नहीं लगा। हमने इस संसार में अपनी अजीबो गरीब स्थिति में एक मौलिक प्रतिशोध सा लिया। अपनी यथार्थवादी

दार्शनिकता के चलते हम यह तो नहीं कह सके कि हमसे अलग और स्वतंत्र कोई है जो अपनी मर्जी से यह सब रच रहा है और प्रकृति के जरिए, संतान के जरिए हमें मता रहा है। हमने अधिक से अधिक प्रकृति को आवरण ही कहा, अपने अज्ञान और विस्मृति की ही चर्चा की। मगर इस अज्ञान और विस्मृति के प्रतिकार स्वरूप जिस ज्ञान और स्मृति की प्रक्रिया का, यानी सृजन प्रक्रिया का आह्वान हमने किया, वह संवेदन को सुलाने और बुझाने की नहीं, जगाने और उकसाने की प्रक्रिया थी। वह रचने की प्रक्रिया थी, जिसमें प्रकृति का अनुकरण नहीं, तिरस्कार भी नहीं, सहयोग चाहा गया। कुछ कुछ उसी प्रकार, जिस प्रकार कि महाभारत में भीष्म सरीखे योद्धा पाण्डवों को अपनी वेध्यता का रहस्य खुद ही बता देते हैं, कि तुम इस तरह हमसे पार पा सकते हो, कुछ उस तरह का सम्बन्ध प्रकृति के साथ साधा गया। हारने की प्रतिभा लेकर जीतने का।

जबकि परिस्थितियों की भिन्नता के कारण पश्चिम के मनुष्य का अनुभव जरा दूसरे किस्म का रहा और इस कारण उनकी ज्ञान संवेदन परम्परा ने भी—अलग किस्म की चुनौतियों को स्वीकारने के फलस्वरूप—हमसे कुछ भिन्न दिशा में अपना विकास किया। आमना सामना करने और परस्पर प्रभावित होने की नौबत काफी बाद में आई और जिसे हम आधुनिक संवेदन कहते हैं, उसका एक महत्त्वपूर्ण घटक यह भी है यह पूर्व और पश्चिम का एक दूसरे से टकराना।

पिछले एक-डेढ़ सौ सालों के अन्दर पश्चिम के साहित्य में आधुनिकता के जो लक्षण प्रगट हुए और उनसे हमारे संसर्ग के फलस्वरूप हमारे साहित्य में भी जो प्रवृत्तियाँ झलकीं उनका विश्लेषण किया जाय तो दो बातें प्रमुखता से उभर कर सामने आती हैं। एक तो स्वयं अपने व्यक्तित्व के साथ या कहें 'ईगो' के साथ सम्बन्ध में गहरे परिवर्तनों का घटित होना और दूसरे काल के साथ मानव चेतना का सम्बन्ध बदलना। देखा जाय तो इन दोनों ही बातों में भारत का अनुभव पश्चिम की अपेक्षा बहुत अलग रहा है। कितना अजीब लगता है हम यह जानकर, कि अभी सौ एक साल पहले तक विक्टोरियन इंगलैण्ड के बुद्धिजीवी इसी विश्वास में जीते थे कि काल का आरम्भ सिर्फ छः हजार साल पहले हुआ था और यह पृथ्वी ईश्वर द्वारा ईसा से कोई चार हजार साल पहले रची गई थी। पहले डार्विन और फिर आइंस्टाइन ने काल की इस अवधारणा को जबर्दस्त धक्का पहुँचाया। चूँकि समय का बोध मनुष्य के लिए अपनी नश्वरता की चेतना का मापन का काम करता है, इसलिए कल्पना की जा सकती है कि काल की हमारी अवधारणा में कोई भी गत्यात्मक

जीवन और मृत्यु के हमारे सवेदन को काफी दूर तक प्रभावित कर देगा। इसी तरह फ्रायड की खोजो ने आधुनिक साहित्य को पहले के साहित्य की तुलना मे अधिक अतमुखता और आत्मपरकता की ओर प्रेरित किया। पर यहा हमे यह नही भूलना चाहिए कि पश्चिम मे स्वाधीन दार्शनिक चितन और कलात्मक सृजन की प्रेरणा इतनी प्रबल रही है कि कई बार उसने बीसवी सदी के मनोविज्ञान और भौतिकी की उपलब्धियो का पहले ही झलका दिया है। पद्रहवी सदी का ब्रूनो, अठारहवी सदी का लॉरेंस स्टर्न और उन्नीसवी सदी के दॉस्ताएवस्की हम अपनी अतर्दृष्टिया से उसी तरह चमत्कृत करते हैं जिस तरह क्रमश आइन्स्टाइन, जयसा और फ्रायड। कभी कभी ऐसा लगने लगता है कि पश्चिम की आधुनिकतम वज्ञानिक-प्राविधिक उपलब्धियाँ भी एक भारतीय लेखक के लिए उस तरह विस्मयकारी या स्पृहणीय नही होती, जितनी कि पश्चिम की यह स्वाधीन कलात्मक और तत्वखोजी तेजस्विता। मानव आत्मा के बारे मे या काल के बारे मे हमने जो अतर्दृष्टिया अर्जित की थी वे आज भी हमारी पहुँच या पकड के भीतर है और स्वय पश्चिम के विचारको-लेखको ने उनसे प्रभावित होना स्वीकार भी किया है। पर जो चीज हम अपनी जरूरत के हिसाब से सबसे ज्यादा आकर्षित करती रही है आधुनिक युग मे वह स्वय उनकी यह खोज-वृत्ति और खोज-दृष्टि ही है जो विज्ञान और कला दोनो ही क्षेत्रो मे फलीभूत हुई है।

कहने का तात्पर्य यह कि आधुनिक युग की एक समान घटनाओ और चुनौतियो के सामने आधुनिक साहित्य का सवेदन किसी हद तक समानधर्मी होने के बावजूद अलग अलग सस्कृतियो मे अलग अलग ढग का भी हो जाता है। मनोविश्लेषण में वहा जो क्राति घटित हुई उसका प्रभाव हम पर न पडा हो, ऐसी बात नही। मगर हम देख सकते हैं कि वहाँ आधुनिक कथा साहित्य ने व्यक्तित्व के विध्वस को रूपायित किया जबकि भारतीय—मसलन हिंदी के—आधुनिक कथा-साहित्य की समस्या व्यक्तित्व की खोज की रही। इसी तरह अस्तित्ववादी विचारको ने हमारे साहित्यकारो को कम उद्वेलित नही किया मगर किसी पश्चिमी अस्तित्ववादी उपन्यास की तुलना यदि आप अज्ञेय के अपने अपने अजनबी से यहा तक कि 'शेखर एक जीवनी' से भी करें तो भारतीय लेखक के आधुनिक सवेदन की बनावट पश्चिमी लेखक के सवेदन से बहुत भिन्न जान पडेगी। जटिलता दुरूहता व्यग्य विद्रूप तथा आदर्शवाद से तीव्र विपरीत प्रतिक्रियाओ को लेकर चलने वाला यथार्थवाद इत्यादि तो पश्चिम की आधुनिक कविताओ की तरह यहाँ की आज लिखी जा रही कविताओ मे भी मिलेंगे। मगर यदि सीधे अनुकरण मे निकले

साहित्य जीवी साहित्य को छोड दिया जाय तो साफ दीख जायगा कि हमारी कविता म यही विशेषताएँ काफी अलग कारणो से उपजी है और इसलिए उनकी प्रक्रिया और परिणमन भी भिन्न होगे। एक चलताऊ उदाहरण काफी होगा पहले अंग्रेजी कवि स्पेण्डर की कविता

An 'I' can never be great man
This known great one has weakness
To friends is most remarkable for weakness
His ill-temper at meals his dislike of being contradicted
His only real pleasure fishing in ponds
His only real desire — forgetting
To advance from friends to the composite self
Central 'I' is surrounded by 'I eating'
'I loving', I angry', 'I excreting'
And the 'great I' planted in him
Has nothing to do with all these

मैंने मनोविश्लेपण के फलस्वरूप उपजी व्यक्तित्व के विध्वस की आधुनिक समस्या का उल्लेख किया था और स्पेण्डर की इस कविता की विषय वस्तु यही है। वही मनोवैज्ञानिक दुश्चिन्ता 'मैं कौन हूँ ?'–जो धीरे धीरे एक आध्यात्मिक असुरक्षा–बोध म बदल जाती है और ईगो नामक ठोस इकाई के टुकडो–टुकडो म बिखर जाने की लाइलाज दुघटना पर टिक जाती है। सवाल है इस 'मैं' की जड कहाँ है ? क्या कोई केन्द्र ढूढा जा सकता है जिसके आस पास 'स्व' की ये बिखरी असम्बद्ध चिप्पियाँ पुन सगठित हो सकें। अब इसके बाद पढिए हिन्दी के वैज्ञानिक कवि विपिन अग्रवाल की कविता जिसका शीर्षक है 'व्यक्तित्व'

मैं तुम्हे पहचानता हूँ
कल्लू से कान है तुम्हार
नाक गजब सी है
अजब सी बात है तुम्हारी
सोना सी आवाज है
कद्दू सा पट है
सडक सी चाल है
खिडकियां सी आँखें ह

और क्या क्या गिनाऊँ
सभी कुछ तो किसी न किसी की
नकल है, लगता है महज़
अपनी गठन को तुम मैं कहते हो !

क्या विपिन अग्रवाल की कविता मे वह मनोवैज्ञानिक सकट बोध है ? नही है। फिर उसमे आधुनिक सवेदन कहा है ? स्पेण्डर की कविता की तान उस 'ग्रेट आई' के जिक्र पर टूटती है, जिसका 'मैं' की और तमाम जानी पहचानी आकृतियो से कोई सम्बन्ध नही। मनोवैज्ञानिक सकट यहा एक मैटाफिज़िकल आध्यात्मिक आयाम को टटोलता है और अनिश्चयग्रस्त हो रहता है। पश्चिमी अनुभव के अनुरूप ही है यह। जबकि विपिन की कविता के केन्द्र म असुरक्षा ग्रथि नही, तक और व्यग हैं, वैज्ञानिक दृष्टि का स्वीकार है। यह बोध कि 'मैं' अन्तत एक गठन है एक सरचना, उसके यहा किसी रूमानी विषाद को या सकट, बोध को नही उभारता, बल्कि एक तथ्य और उससे उपजने वाली सम्भावना का सकेत करता है। 'आधुनिकता बोध' शीर्षक एक लेख मे विपिन जी ने लिखा भी है कि यह फिशन का युग है। क्रिस्टल की तरह बनी चीजें अपने आन्तरिक सगठन के कारण टूटने का विरोध आसानी से कर लेती हैं। टूटकर भी अपना आकार नही खोती। इस उदाहरण से क्या यह ध्वनित नही होता कि जहा पश्चिमी कवि का आधुनिक सवेदन एक ऋणात्मक आत्म स्थिति को सूचित करता है, वहाँ भारतीय कवि के सवेदन के लिए आधुनिकता एक धनात्मक स्थिति उभारती है एक चुनौती। सम्भावनाओ के बीच चुनाव करने की।

मगर यही तो समस्या है। मनुष्य के वेदन तन्त्र और क्रिस्टल के सगठन की इस नज़दीकी का अहसास क्या अपने आप म एक नैतिक और सावेदनिक सकट नही है ? जसाकि अज्ञेय ने आधुनिकता बोध पर आयोजित एक परिसवाद के सिलसिले मे कहा था, 'जीवन की प्रक्रिया का यह बढता हुआ ज्ञान, जीवन यन्त्र की यान्त्रिक गति का यह बढता हुआ परिचय अपने आप म एक समस्या है। जितना ही अधिक हमारा जीवन सतह पर आता जाता है, उतनी ही सतह बढती जाती है, अर्थात् उसके अनुपात म आभ्यतर जीवन उतना ही छोटा होता जाता है। जीवन स्फटिक मे रचना ही रचना है गति ही गति है — तत्व कुछ है या नही, हम नही जानते।'

तत्व कुछ है या नही यह तो विपिन अग्रवाल भी नही जानते। पर उनकी रचनाओ या विचारो म इस न जानने की स्थिति का सकट — उसके नैतिक-सावेदनिक पहलुओ की चिन्ता का पता नही चलता। हाँ, उनम विनान की

उपलब्धियों को ग्रहण करने, साहित्य सजना के क्षेत्र म उनका गहरा चिंतन-मनन करने की एक ऐसी सजगता के दशन अवश्य होते हैं जो अयत्र मिलना कठिन है और जिसके अभाव मे किसी भी भारतीय साहित्य की आधुनिकता के बारे म, बल्कि सच पूछें तो सवेदना के बार म भी आश्वस्त नही हुआ जा सकता।

यही पर सवाल उठता है कि हमारे सामने आधुनिक युग की चुनौतियाँ क्या हैं और पश्चिम की सजनशीलता से प्रभावित हमारी सवेदना ने अपने सस्कारगत अस्तित्व और परिवेशगत यथाथ के परिप्रेक्ष्य मे उन चुनौतिया का प्रत्युत्तर किस तरह ढूढा या दिया है। यह तो एक मानी हुई बात है कि आधुनिकता सम्बधी और आकारों के क्षेत्र मे क्रियाशील होती है। उसकी खोजा का क्षेत्र है स्वय भाषा और आदमी का वेदन तत्र, जिसमे बौद्धिकता अनिवायत शामिल है। वस्तु सत्ता और व्यक्ति-सत्ता के सम्बध भी, चूकि काल और मन के बारे म हमारी अवधारणाओ मे गहरी क्राति घटित हो जाने के फलस्वरूप बदल चुके थे, इसलिए 'वाक' और 'अथ' सम्बध भी उससे प्रभावित हुए डाँवाडोल हो गए। इस घटना को 'समेटिक डिस्टर्बेंस' नाम दिया गया। भाषा पर नए सिरे से विचार किया जान लगा और स्वय रचनाकार यह अनुभव करने लगे कि भाषा स्वय अपने आप म अथ का—नए जीवनदायी अथ सम्बधा का स्रोत हो सकती है। एडवड सापिर ने तो यहाँ तक कहा कि 'भाषा स्वय विचारो का कैसेट है।' जसा कि विपिन अग्रवाल ने भी लिखा है 'यथाथ की नकल करने की बजाय यथाथ प्रकट कसे होता है यह आधुनिकता खोजती है।' यह भी, कि 'आज आधुनिकता की यही मायताएँ हैं जो भाषा और प्रकृति की सीमाए है जसे बोलचाल के शब्द, अमूत चित्रा मे भाग लेने वाले आरभिक आकार इत्यादि। सवाल यह है कि हम जिन स्थितियो से घिरे हुए हैं, उनके चक्रव्यूह को भेदने और उससे बाहर निकालने वाली भाषा की ईजाद करने की चुनौती क्या हमारे साहित्यकारो न स्वीकार की है? और क्या ये सिफ भाषा का मसला है। या एक पूरे समाज की मानसिक और कलात्मक मुक्ति का?

स्थिति हमारी यह है कि साक्षरता के अभाव मे देश के एक प्रतिशत लाग भी निर्माण काय मे हिस्सा नही ले रह हैं। जो ले रह है उनके सामने भी व नियानवे प्रतिशत नही हैं। उनके सोचन और अनुभव करन की भाषा एक नही है। सारी चीजें एक गतिहीन सह अस्तित्व म लस्टमपस्टम चल रही हैं बल्कि घिसट रही हैं। धम और दशन के क्षेत्र म नया चिंतन तो कभी का बद हो चुका था रूढिग्रस्त सस्कार और एकेडेमिक अनुशासन की तरह हम

उन्हे सिर्फ बचाकर रखे रहे और जब विनाश आया तो उसको भी हमने मजे मजे में अपना लिया। उसे अपनाने की कोई कीमत हमने नहीं चुकाई। हमारे संस्कार और हमारी संवेदना का विनाश कहीं से भी बदल या तोड़े फोड़े यह विनाश वहाँ निर्विघ्न विराजमान हो गया। विपिन अग्रवाल की यह बात मुझे दिलचस्प लगती रही है कि एक ही चीज ऐसी थी जिसका निर्माण हम कर रहे थे और वह थी हमारी कविता और उसमें भी बीसेक साल की तगड़ी हलचल के बाद न केवल ठहराव आ गया, बल्कि एक तरह की आधुनिकता-विरोधी प्रतिगामिता के लक्षण भी। यह तो सही है ही कि हमारे यहाँ न केवल विभिन्न कलाओं के सजग आलोचक, बल्कि धर्म, विज्ञान, दर्शन और साहित्य जैसे स्वभावतः टकराने वाले विषयों के विशेषज्ञ भी अपने अपने दड़बों में अलग-थलग पड़े रहते हैं और उनके बीच कोई सार्थक संवाद नजर नहीं आता। हो सकता है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो अन्तर्दृष्टियाँ हमारे पुरखों ने कभी कमाई थीं वे उस तरह विज्ञान और तर्क के विरोध में न खड़ी हों जिस तरह कि पश्चिम की द्वन्द्वमूलक परम्परा में हुआ। पर क्या इससे पुनर्मूल्यांकन और आत्मालोचन की आवश्यकता और भी ज्यादा दुर्निवार नहीं हो जाती? क्या महज ज्ञान प्रतीतियों की समानान्तरता से कलात्मक और नैतिक संवेदन के क्षेत्र में उपजने वाली सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं?

जब अपनी स्थिति के गम्भीर चिंतन के परिप्रेक्ष्य में इस तरह के सवाल हमारे मन में उठते हैं तो साहित्य में आधुनिक संवेदन की उपस्थिति और सक्रियता का सही मतलब हमें दिखने लगता है। इस तथ्य के बावजूद कि ऊपर जिन खाइयों की बात की गई, उन्हें भरना सिर्फ साहित्यिकों के बूते का नहीं है वह तो देश के समस्त बुद्धिजीवन की समस्या है। मगर साहित्यिक पर सृजनकर्मी होने के नाते एक विशेष दायित्व आता है और इसलिए आता है कि साहित्य सिर्फ अनेक अनुशासनों के बीच एक और अनुशासन नहीं है। उसकी हैसियत केन्द्रीय है मौलिक रूप से केन्द्रीय। पश्चिम में, जैसा कि हमने पहले भी संकेत किया, यह हैसियत स्वयंसिद्ध सी रही है और दूसरे अनुशासनों द्वारा स्वीकृत भी। भारत में—कम से कम वर्तमान भारत में—रचना कर्म की इस केन्द्रीय स्थिति की न तो समझ दिखाई पड़ती है, न स्वीकृति। पर भारत ने अगर पश्चिम की खोज सचमुच की है तो उस खोज का केन्द्र बिन्दु यही है यह सृजनशीलता, और यही हमारे आत्मविश्वासपूर्ण आधुनिक संवेदन का बुनियादी घटक है। इसे म्लान या अवमूल्यित हाल देखते रहने का अर्थ यही होगा कि हमने एक नकलची गरीब बिरादर बने रहने की

नियति स्वीकार कर ली है। अगर मुट्ठी भर बुद्धिजीवी लोग अपने-अपने अनुशासना म सिकुडे रहें, बाकी पटे लिखे लोग अपनी आत्म तुष्टि और नव-धनाढ्यता म लिप्त रहे, और जो असली समाज है वह अपनी दिनोदिन क्षरित होती जाती वाचिक संस्कार सम्पन्नता के साथ निरक्षर बना रहता यह आधुनिक संवेदन सम्पन्न साहित्य भी आखिर किसके संवेदन का विस्तार करेगा?

निश्चय ही साहित्य—चूंकि उसका माध्यम शब्द है—हमारे संवेदन का विस्तार करता है। वह नया संवेदन जिसे हम अभिव्यक्त नहीं कर सकते, हम अकुलाता और घोटता है हमारी मनुष्यता को नई परिस्थितियों के सामने पगु करता है। हमें अपनी अजनबियत म त्रस्त करता है। आधुनिक कवि या उपन्यासकार हमारी चेतना के सीमान्तों पर घटित होने वाली इस उथल-पुथल को अपने संवेदन से स्वायत्त करता है उसे हमारी सामर्थ्य की पहुँच मे ला देता है। भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की एक नयी संभावना को उद्घाटित करते हुए। यह इसीलिए होता है कि आधुनिक रचनाकार किसी भी अन्य क्षेत्र के बुद्धिजीवी की अपेक्षा अपने देश-काल के प्रति अधिक संवेदनशील होता है अपने समय के साथ उसका रिश्ता बहुत तीखा होता है और ज्यादा प्रत्यक्ष भी। इसलिए कि उसकी सर्जक्ति अस्तित्वसिद्ध और संश्लिष्ट होती है भाव ऊर्जा, बुद्धि ऊर्जा और स्नायविक-ऊर्जा तीनों की घनिष्ठ एकाग्रता के कारण।

आधुनिक संवेदन सिर्फ आज लिखे रहे होने का पर्याय नहीं होता। अपने समय को पूरी ऊर्जा के साथ जीने का प्रमाण जो भी रचनाकार देता है, वह हमें आधुनिक लगता है फिर चाहे वह किसी भी युग का क्यों न हो। उसकी रचना म हम अपनी आत्म स्थितियाँ बिम्बित दीखती हैं, अपनी प्रश्नाकुलता का सह-संवेदन दिखाई देता है। हो सकता है खुद उसका सम्बन्ध अपने काल के साथ विरोध और असामजस्य का रहा हो। बहुत ऊँचा लेखक वह न भी हो, उसकी इस प्रकार की मार्मिकता हमारे लिए इसीलिए बनती है कि हमारे देश के भाव बोध के इतिहास म कुछ ऐसे क्षण का पता हमें उसकी रचना से लगता है जब सारे ऊपरी अमन चैन और कुशल मगल के बीच हम अस्थिरता शकाग्रस्तता और आत्मालोचन के दौर से गुजर रहे थे। या ऐसी स्थिति के चलन भी कोई आत्मालोचन नहीं कर रहा था सिवाय उस आदमी के जो अपनी बेचैनी और असमंजसपूर्ण अन्तर्जीवन का साक्ष्य हमारे लिए रख गया। ऐसा लेखक, वह चाहे जब भी पैदा हुआ हो, हमारे लिए आधुनिक है और हम उसका पुनराविष्कार जमा करते हैं—आज की भाषा और आज के मुहावरे म उसके रचना-स्पन्दन को पकडना चाहते हैं।

यह दिलचस्प है कि जिसे हम आधुनिक भाव बोध कहते हैं, उसका एक प्रमुख घटक यह अतीत की चेतना भी है। न केवल अतीत के अतीतपन की, बल्कि उसकी वर्तमानता की भी। यह कहना कि हम में इतिहास बोध की बड़ी कमी रही है, सच होते हुए भी एक पिटी पिटाई बात है। इसकी गहराई में गए बगैर उसे नकारना या पूरी तरह पश्चिमी तर्क से उसे मान लेना दोनों ही वस्तु स्थिति का सरलीकरण करना होगा। सत्य की खोज के लिए तथ्यों का रोमानीकरण जिस तरह निषिद्ध है, उसी तरह नए तथ्य खोजने के लिए स्वयं सत्य का रोमानीकरण भी गलत है। साहित्य का ही निकट उदाहरण लें तो अभी तक छायावाद से अपने सम्बन्ध को लेकर जिस तरह के 'सेल्फ राइचस' वक्तव्य नए आलोचक और युवा कवियों के यहाँ दिखाई देते हैं वे क्या हमारे इतिहास बोध या तथ्यान्वेषी दृष्टि का प्रमाण देते हैं? यह तो जगजाहिर बात है कि छायावादी कविता से हिन्दी के आधुनिक कवियों ने विद्रोह किया और उस विद्रोह में से ही नई कविता निकली। मगर नई कविता के दौर का और स्वयं छायावाद का पुनर्मूल्यांकन करने के सिलसिले में यह देखा गया कि नई कविता में काफी कुछ ऐसा है जिसकी संगति न केवल छायावाद की काव्य संस्कृति से, बल्कि उसमें उपस्थित ऐतिहासिक चेतना से भी साफ झलक आती है और यह रिश्ता अथगम है। निश्चय ही वह सचेत विद्रोह साधक न हुआ होता तो यह संगति भी निरर्थक होती। अंग्रेजी में आधुनिक कविता की शुरुआत जिन्होंने की उन्होंने भी इसी तरह पूरी उन्नीसवीं सदी के आखिर तक चली आई रोमण्टिक काव्यधारा को विस्थापित करके, उससे विद्रोह करके ही अपनी राह निकाली थी। मगर जैसाकि आधुनिक शोधकर्ताओं ने साबित कर दिखाया है, वह रोमण्टिक विचार धारा येट्स, एलियट और ऑडन तक आते आते एकदम उड़ नहीं जाती, बल्कि अन्तःसलिल होकर एक नया विकास पा लेती है। निश्चय ही एलियट और येट्स उस अर्थ में रोमानी नहीं होंगे जिस अर्थ में वर्ड्स्वर्थ या शैले रोमानी हैं। मगर आज का साहित्य चिंतक साफ देख और पहचान सकता है कि सन् 1800 के आसपास जो उथल पुथल हुई थी और सन् 1914 के आसपास जो नई उथल पुथल हुई, उन दोनों के बीच एक सम्बन्ध है, जो सिर्फ दूरारूढ़ नहीं है गहरा और तात्त्विक है। इतना ही नहीं, आज का यूरोपीय चिंतक यह भी पहचान सकने में सक्षम है कि बीसवीं सदी की सभ्यता के बहुत सारे संकटों ने तभी जड़ पकड़ ली थी, जब मध्ययुगीन मानसिकता को पछाड़ खिलाकर यूरोप ने तथाकथित पुनर्जागरण के युग में प्रवेश किया था।

क्लासिकी साहित्य में महान् पर, आदर्श पर बल होता है क्योंकि जिस युग में

वह रचा जाता है, उस युग मे आदमी को अपनी बनाई हुई व्यवस्था पर तथा उसके टिकाऊपन पर विश्वास होता है। धम भावना और भौतिक प्रगति के बीच भी द्वन्द्व नही उपजता। रोमानी साहित्य मे साधारण जन की प्रतिष्ठा होती है, प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते को नए सिरे से परिभाषित करने की जरूरत महसूस होती है और विज्ञान का मनुष्य की मुक्ति-चेष्टा के बहुत बडे साधन के रूप मे स्वागत किया जाता है क्योकि स्वय 'रीजन' पर अत्यधिक विश्वास होता है। आधुनिक युग तक आते आते मानवीय बुद्धि के इस विस्फोट का एक चक्र पूरा हो जाता है, सृष्टि और मानव स्वभाव के रहस्य उघड जाते हैं, नतिक चेतना और धमभावना के सभी आलम्बन खिसक जाते हैं, और स्नायविक रूप से अस्वस्थ (एबनामल) व्यक्ति साहित्यिक सहानुभूति के केन्द्र मे आने लगता है। बुद्धि जब अपनी विजिगीषा के चरम पर सब कुछ सतह पर ले आती है तो क्लासिकी ऊँचाई और रोमानी आत्म-विस्तार दोनो से वचित होकर आधुनिक कला इस सपाटपन से विद्रोह करती है और एक चौथे आयाम मे अपनी परिपूर्ति ढूढती है।

जिस युग मे सबसे तेजतरार लोग विज्ञान, यान्त्रिकी या बिजनेस मैनेजमेन्ट मे जा रहे हो, उस युग मे कविता सिफ पीछे छूटे लोगो का सरोकार भर नही रह सकती। अपने युग के बौद्धिक जीवन से सम्बध टूट जाने पर कविता अपनी साख ही खो देती है। प्राचीनकाल से ही कवि का बहुश्रुत होना जरूरी समझा गया है। हमारे यहाँ तो काव्य की गणना कलाओ म न होकर विद्याओ मे हुई और कला को उपविद्या माना गया। ईसाई परम्परा का कवि टी एस एलियट विज्ञान की चुनौती का सामना स्वय धमशास्त्र और दशन को ज्यादा बडी बौद्धिकता का क्षेत्र मानकर कवि-कम और चितन दोनो धरातलो पर कर सकता था और वैज्ञानिक मेधा को काव्य मेधा की तुलना म निकृष्ट ठहरा सकता था। कवि कम को अत्यन्त गभीरतापूवक निबाहते हुए भी वह मनुष्य के धार्मिक सवेदन को उसके काव्य सवेदन की अपेक्षा बहुत अधिक महत्वपूण मानता था—इतना महत्वपूण, कि एक जगह वह कविता को मनोरजन की एक श्रेष्ठतर विधा भर कह देता है। होने को हर सस्कृति म मानव मूल्यों का एक उच्चावच क्रम बार-बार आविष्कृत किया जाता रहा है नए-नए सन्दभो म उस सस्कृति के सबसे सवेदनशील और सजग सजक। चितको द्वारा। आधुनिक युग भी अपनी सारी दुर्निवाय मूल्यगत अराजकता के बावजूद अपने सजक प्रतिभाओं को इस आस्तित्विक दाय व दायित्व स मुक्त नहीं कर देता। पर जसी हमारी स्थिति है, उसम म एलियट जसा तेवर कोई भारतीय कवि अपनाए तो हमारी वज्ञानिकता और हमारी धार्मिकता के स्वर को देखते हुए अजूबा ही लगेगा।

हमारे शास्त्रीय सगीत का एक प्रचलित शब्द है 'उपज'। सगीतकार एक राग की दी हुई कठोर सीमाओ के कठोर अनुशासन के भीतर किस प्रकार हर बार नए गुल खिलाता है, नए नए परम्युटेशन काम्बिनेशन्स पैदा करता है, उसका हम पर क्या असर होता है ? सगीत सिर्फ मनोरजन की कला नही है वह भी उतना ही बौद्धिक है जितना गणित। और उससे मिलने वाले आनन्द की अप्रत्याशित समृद्धि हमारी भावनाओ से ज्यादा सभावनाओ के गणित से ताल्लुक रखती है, यह अगर हम मान लें तो कह सकते हैं कि आधुनिक साहित्य म सजनात्मक कल्पना की भूमिका और कायपद्धति लगभग वही है जो शास्त्रीय सगीत म उपज' की। जानकारियो के घटाटोप के बीच इतना तो स्पष्ट ही हो चुका है कि चीजो के सम्बन्ध गहरे और जटिल होते हैं और सरचना का महत्व है, दावो या पूर्वानुमानो का नही। साहित्य म भी प्रक्रिया का महत्व है और अपूर्वानुमेयता म ही आधुनिक कला का वास है। पर इसका मतलब यह नही है कि साहित्य की कला हमारे भाव सवेदनात्मक अन्तर्जीवन से सवथा स्वतन्त्र हो जा सकती है और भाव ऊर्जा महत्व नही रखती। वज्ञानिक बुद्धि के महत्व को रेखाकित करते हुए हम यह भी देखते रहना होगा कि कही हम साहित्य को विज्ञान का गरीब रिश्तेदार तो नही बना रहे हैं उसे किसी विचार दशन के अधीन तो नही किए दे रहे हैं। यह सतकता साहित्य के अस्तित्व की ही बुनियादी शत है। कुमारस्वामी ने कही लिखा है कि 'सच्ची कला जगत् की अप्राप्य पूणता से स्पद्धा करने नही जाती। अपने स्वय के तक और प्रतिमानो पर ही निभर रहती है।' अगर यह सही है तो साहित्य की कला के भी स्वय अपने तक और प्रतिमान होने ही चाहिए, जो सद्धान्तिक भौतिक विज्ञान या अमूत चित्रकला के पडोसी होते हुए भी अपनी निजी सत्ता बनाए रख सकें। एक के तक को दूसरे पर इसलिए भी नही घटाया जा सकता कि आखिर इस युग की सवेदना की सारी बौद्धिक प्रवृत्ति के बावजूद काव्य की और साहित्य मात्र की चालक शक्ति तो मनुष्य की भाव ऊर्जा ही है। बुद्धि ऊर्जा भी साहित्य मे आखिर भाव ऊर्जा के धक्का के बल पर ही तो साथक सरचनाओ की खोज कर पाती है।

नयी कविता के दौर के शिथिल पड जाने के बाद उपजी युवा कविता का विश्लेषण करते हुए विपिन अग्रवाल इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इसम आधुनिकता के लक्षण अनुपस्थित हैं, क्योकि इसमे चुनाव के लिए नयी राह खोलने की क्षमता नही है। उनके अनुसार यह 'युवा कवि अपने ससार की सचाई और अनुभवमयता को पाठक के सामने आदश के रूप म रखना चाहता है और उसे इस आदश को स्वीकारने के लिए उकसाता है। चुनाचे

हमारे शास्त्रीय सगीत का एक प्रचलित शब्द है 'उपज'। सगीतकार एक राग की दी हुई कठोर सीमाओ के कठोर अनुशासन के भीतर किस प्रकार हर बार नए गुल खिलाता है, नए नए परम्युटेशन काम्बिनेशन्स पैदा करता है, उसका हम पर क्या असर होता है ? सगीत सिर्फ मनोरजन की कला नही है वह भी उतना ही बौद्धिक है जितना गणित। और उससे मिलने वाले आनन्द की अप्रत्याशित समृद्धि हमारी भावनाओ से ज्यादा सभावनाओ के गणित से ताल्लुक रखती है, यह अगर हम मान लें तो कह सकते हैं कि आधुनिक साहित्य मे सजनात्मक कल्पना की भूमिका और कार्यपद्धति लगभग वही है जो शास्त्रीय सगीत मे 'उपज' की। जानकारियो के घटाटोप के बीच इतना तो स्पष्ट ही हो चुका है कि चीजो के सम्बन्ध गहरे और जटिल होते हैं और सरचना का महत्व है, दावो या पूर्वानुमानो का नही। साहित्य मे भी प्रक्रिया का महत्व है, और अपूर्वानुमेयता मे ही आधुनिक कला का वास है। पर इसका मतलब यह नही है कि साहित्य की कला हमारे भाव सवेदनात्मक अन्तर्जीवन से सर्वथा स्वत त्र हो जा सकती है और भाव ऊर्जा महत्व नही रखती। वैज्ञानिक बुद्धि के महत्व को रेखाकित करते हुए हमे यह भी देखते रहना होगा कि कही हम साहित्य को विज्ञान का गरीब रिश्तेदार तो नहीं बना रहे है उसे किसी विचार दर्शन के अधीन तो नही किए दे रहे है। यह सतर्कता साहित्य के अस्तित्व की ही बुनियादी शर्त है। कुमारस्वामी ने कही लिखा है कि सच्ची कला जगत् की अप्राप्य पूर्णता से स्पर्द्धा करने नही जाती। अपने स्वय के तर्क और प्रतिमानो पर ही निर्भर रहती है। अगर यह सही है तो साहित्य की कला के भी स्वय अपने तर्क और प्रतिमान होने ही चाहिए, जो सद्धान्तिक भौतिक विज्ञान या अमूर्त चित्रकला के पडोसी होते हुए भी अपनी निजी सत्ता बनाए रख सकें। एक के तर्क को दूसरे पर इसलिए भी नही घटाया जा सकता कि आखिर इस युग की सवेदना की सारी बौद्धिक प्रवृत्ति के बावजूद काव्य की और साहित्य मात्र की चालक शक्ति तो मनुष्य की भाव ऊर्जा ही है। बुद्धि ऊर्जा भी साहित्य मे आखिर भाव ऊर्जा के धक्के के बल पर ही तो सार्थक सरचनाओ की खोज कर पाती है।

नयी कविता के दौर के शिथिल पड जाने के बाद उपजी युवा कविता का विश्लेषण करते हुए विपिन अग्रवाल इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इसमे आधुनिकता के लक्षण अनुपस्थित हैं क्योकि इसमे चुनाव के लिए नयी राह खोलने की क्षमता नही है। उनके अनुसार यह 'युवा कवि अपने ससार की सचाई और अनुभवमयता को पाठक के सामने आदर्श के रूप मे रखना चाहता है और उसे इस आदर्श को स्वीकारने के लिए उकसाता है। चूकि

शक्तिशाली और राग प्रेरित वाक्य विन्यास को रचने की है जिसमे वाक्य और पद अविच्छिन्न रूप से एक हो जाएँ। चूंकि मुझे अपनी रागात्मक विषय वस्तु के लिए ही इस राग नियन्त्रित वाक्यविन्यास की खोज है, इसलिए मैं उन परम्परागत छन्दो म ही अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति ढूढता पाता हूँ, जिसका विकास मेरी भाषा के विकास के साथ साथ हुआ है। एक बात, मगर मैं अच्छी तरह समझ चुका हूँ और वह यह कि जो केवल व्यक्तिगत और व्यक्तिबद्ध है उसे सडते देर नही लगती। उसे सडने से बचाने के लिए उसे बर्फ या नमक मे भरकर सुरक्षित करना होगा। मैं अपनी भाव-ऊर्जा गडेरियो, और विद्वानो को सौप देता हूँ। आखिर मैं कौन हूँ ? एक भीड हूँ, मैं एक अकेला आदमी हू मैं क्या हूँ ? मैं कुछ नही हूँ। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यह जो प्राचीनतम लवण है, यही मानव भावनाओ को टिकाऊ बना सकता है। क्यो न हम अपनी कल्पना शक्ति को नृत्यशील रखें — पुरानी जानी पहचानी लयगतिया को अपने व्यक्तिगत भाव सवेगो के परे उस प्राचीन लवण तक पहुँचने दें ?'

यह प्राचीन लवण (ऐन्शण्ट साल्ट) क्या है ? अपने समकालीनो की युवतर पीढी की चर्चा करते हुए येटस ने इसका भी स्पष्ट सकेत किया है

ये कवि चूकि जिस वस्तु को प्रेषित करना चाहते हैं, वह उपनिषदो मे वर्णित वह अतिप्राचीन सनातन आत्मा न होकर उनकी अपनी व्यक्तिगत बुद्धि है इसलिए उन्हे पूरा अधिकार है कि वे भूमिगत रेल म बठे उकताए हुए आदमी की वस्तुगत सत्ता का अतिरिक्त महत्व देकर उछाले। वे महामत्स्य को मिटा देना चाहते है लियोनार्दो दा विंची को भी बुद्धिबल मे पछाड देना चाहते हैं। उनकी कविता लोकचित्त म बसे हुए बिम्बो और विश्वासो का भी पूरी तरह सफाया कर देना चाहती है और फिर भी कविता बने रहना चाहती है। जहाँ तक मेरा सवाल है मैं तो अपने देश के लोकचित्त से ही जुडा हुआ हूँ और एक 'काउण्टर रनेसाँ' की आहट सुन रहा हूँ।'

मेघदूत शिविर लखनऊ 1981 म प्रस्तुत आलेख

भविष्य और साहित्य

भविष्य फल निषिद्ध फल भले न हो संदिग्ध तो है ही। स्वस्थ मनुष्य की तरह स्वस्थ साहित्य को भी देखा जाय तो भविष्य की चिन्ता नहीं व्यापनी चाहिए। क्या हम नहीं देखते कि अच्छे साहित्य और महान् साहित्य की भी विषय-वस्तु अतीत और वर्तमान से ही ली जाती रही और भविष्य जब भी रचनात्मक साहित्य का प्रेरक या प्रतिपाद्य बनता है, प्राय दूसरे दरजे की रचना को ही जन्म देता है ? कोई यहाँ पर यह भी आपत्ति उठा सकता है कि वर्तमान युग में तो तथाकथित स्वस्थ आदमी और स्वस्थ साहित्य की बात ही करना बेकार है यहाँ तो अस्वस्थ पर आँख गड़ाकर ही स्वस्थ के बारे में सामान्यीकरण किए जाते हैं। मगर यदि आधुनिक साहित्य अस्वस्थ साहित्य है तो उसका उत्कृष्टतम भी भविष्य की बजाय अतीत पर ही अब भी अपनी आँख क्या गड़ाता है ? बल्कि, आधुनिक साहित्य तो पिछले युगों के साहित्य की तुलना में ज्यादा ही अतीतग्रस्त जान पड़ेगा। आधुनिक साहित्य के लक्षण ग्रन्थ हम किन्हें मानेंगे—प्रूस्त के रिमम्ब्रेन्स आव थिंग्ज पास्ट या ब्रूनो शुल्ज के सेनेटोरियम अण्डर द साइन आव द आवरग्लास को या जॉर्ज आरवेल के नाइण्टीन एटी फोर को ? मगर क्या यह अतीतग्रस्तता स्वयं एक भविष्यग्रस्त कल्पना की ही प्रतिक्रिया नहीं हो सकती ? वह प्रतिक्रिया है या उपचार ? क्या आधुनिक साहित्य ही परम्परा के बारे में सबसे अधिक स्व चेतन नहीं है ? क्या परम्परा भी आधुनिकता का ही एक आविष्कार नहीं है ?

आखिर क्या कारण है कि इस सदी का साहित्य इस कदर अतीतोन्मुख है ? ब्रूनो शुल्ज के दोनों उपन्यास बचपन के अनुभवों पर मिथ और फन्टेसी के धरातल पर एकाग्र हैं। बशेविस सिंगर के कथा साहित्य का तो स्थायीभाव ही अतीत और प्रेत-विद्या है। प्रसिद्ध चेक उपन्यासकार मिलान कुन्देरा का दि जोक चेकोस्लोवाकिया की जातीय स्मृति के प्रतीक स्वरूप एक लोकगीत की शवयात्रा है। बोर्खेज तो इनसे भी एक कदम आगे हैं वे अतीत से ही नहीं अतीत के साहित्य से भी—सर्वान्तीज आदि से — एक अभूतपूर्व एकाग्रता और विह्वलता

स चिपटते है। लगता है आधुनिक का न म अतीत ने एक अतिरिक्त रचनात्मक मूल्य पा लिया है। ऐसा क्या ? क्या भारत म भी एमा है ?

भारत मे, हम देखते हैं, प्रक्रिया कुछ उमस उलटी चलती नान पड़ती है। जयशकर प्रसाद का कंकाल पढ़िए। अन तमूर्ति का सस्कार पढ़िए, क्या लगता है ? दोना उप यास अतीत ॥ पिण्ड छुड़ाना चाहन हैं। दोना उसको भाड फूक कर देना चाहते है मानो वह सचमुच प्रेत बाधा हो। प्रेमचन्द का गोदान पढ़िए अगर उसे ट्रेजेडी की तरह देखा जाए या सिफ विपाद की तरह देखा जाए ता उस ट्रेजेडी, उस विपाद का आलम्बन क्या अतीत ही नही है—अतीत, जो यहा गाय की लालसा' के रूप म मूत्त हुआ है ? कंकाल मे अतीत और परम्परा के प्रतिनिधि ही जीवन मूल्या के शत्रु की तरह प्रकट हुए है कंकाल जो है वह मानो स्वय जीवन का ही कंकाल है, समाज से बहिष्कृत। फिर भी लगता है, जीवनदायी मूल्य अगर कही है तो इस अराजकतावादी व्यक्ति विजय म ही है या फिर अनाथ घण्टी मे जो 'ग्रास रूट' है। दोना एक तरह से इस अतीतजीवी, परम्पराग्रस्त और पतित समाज के आउटसाइडर हैं। पर भविष्य की आशा भी उन्ही मे है। दूसरी ओर हाल ही मे लिखे गए कन्नड उपन्यास सस्कार के नारणप्पा की स्थिति भी कमोबेश वसी ही है और वहा परम्परा का प्रतिनिधि प्राणेशाचाय एक प्रत्यासन्न समस्या का हल शास्त्रा म नही पाता, देवता मे नही पाता। उसे हल तो नही अपने सकट से एक छुटकारासा मिलता है उसी भ्रष्ट और विद्रोही नारणप्पा की शूद्र रखल म। और वही अब प्लेग से उजडे गाव म उसकी साथिन यानी उसका भविष्य है। कितना भिन्न है यह 'वेस्टलण्ड' पश्चिम के आधुनिक कवि के वेस्टलण्ड' से। वहाँ जीवन की आधुनिक गति ने परम्परागत आस्था को उजाड़ा है ता यहा परम्परा पर ही जीवन को उजाडन का आरोप लग गया है।

तो क्या पश्चिम का साहित्य अपने भविष्य से त्रस्त होकर अतीतमुखी हुआ जा रहा है और भारत का साहित्य अतीत की जकड से त्रस्त हाकर भविष्य मुखी ? सवाल अगला फिर यह उठेगा कि यह भविष्य क्या है कसा है जिसकी ओर भारत हमारे जीवन और साहित्य के साक्ष्य के मुताबिक उन्मुख है ? आजकल इक्कीसवी सदी का नारा खूब जोरा से उछला हुआ है और उन्नत प्रौद्योगिकी तथा कम्प्यूटरी विकासवाद का भी। जिस तरह नेहरू युग को हमारे एक आलोचक ने विन्ता युग कहा है उसी तरह शायद यह युग आग चलकर टेक्नालाजी या कम्प्यूटर युग कहलाए—ऐसा प्रतीत होता है। राजाराव के उपन्यास कठपुरा का नायक ही क्या सारा वातावरण ही गांधी

से ओतप्रोत है, पर उपन्यास के अंत में यह मन्तव्य उभरता लगता है कि देश का भविष्य नेहरू के हाथ में है, गाँधी के हाथ में नहीं। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के हीरो राममोहन राय हैं तो उत्तरार्द्ध में वंकिम चटर्जी का राष्ट्रवादी चिंतन विजयी होता दीख पड़ता है। बीसवीं सदी में हम पहले श्री अरविंद की आवाज सुनाई देती है और फिर गाँधीजी की। उसके अगले दौर में दृश्य पहले गाँधी और टगोर की दृष्टियों के बीच उभरे द्वन्द्व का है और बाद में गाँधी और नेहरू के बीच का। यहाँ तक कि भारत के भविष्य की श्री अरविन्द की कल्पना क्या थी और भारत के भविष्य की गाँधी कृत कल्पना क्या थी — शायद ये दोनों ही अब उस भविष्य की कल्पना से बहिष्कृत हैं जो इस समय के हमारे राष्ट्र निर्माताओं के मन में है। इतना ही होता तो भी एक बात थी। साहित्य यदि समाज का दर्पण होने का दावा वास्तव में कर सकता है तो समसामयिक भारतीय साहित्य हमारे भविष्य का जो चित्र उभार रहा है वह क्या उस भविष्य से अलग अपनी कोई पहचान स्थापित करता है जिससे पश्चिम का साहित्यकार और चिंतक ग्रस्त है ?

यह अकारण नहीं है कि आधुनिक साहित्य की तरह पश्चिमी दार्शनिकता का भी सबसे दार्शनिक और सृजनात्मक अंश काल और मानव अस्तित्व के सम्बन्ध में की इस अनिवार्य टेक्नोलाजिकल परिणति का स्रोत यूनानी चिंतन की शुरूआत में ही घटित एक दुर्भाग्यपूर्ण विचलन में पाता है। उसके मुताबिक इस मूल पाप के फलस्वरूप ही पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में 'कलकुलेटिव थिंकिंग' मेडिटेटिव थिंकिंग पर निरन्तर हावी होता चला गया। दार्शनिक चिंता के एक दूसरे छोर पर हम विटगेन्स्टाइन सरीखा उदाहरण देखते हैं जो अपने जीवन काल से अलग एक टालस्टॉय सरीखे नैतिक अन्तर्द्वन्द्व से आखिर तक ग्रस्त रहा। प्रथम महायुद्ध के तुरन्त बाद प्रकाशित अपने एक प्रसिद्ध पत्र में पाल वालेरी ने पूछा था — 'यह यूरोप क्या कभी वह बनेगा जो वह वास्तव में है — एशिया महाद्वीप का एक पिद्दी सा अन्तरीप ? या कि वह वही बना रहेगा जो वह वास्तव में है नहीं, सिर्फ लगता है, समूची पृथ्वी का एक अमूल्य अंग, उसकी मुकुटमणि, इस वसुन्धरा की विराट देह का मस्तिष्क।' दार्शनिक हाइडेगर वालेरी की इन पंक्तियों को उद्धृत करते हुए उस पर यह टिप्पणी करता है कि 'शायद अब एक अर्थ में वालेरी का कहा सच हो गया है, यूरोप एक पिद्दी अन्तरीप ही होकर रह गया है। मगर इसके बावजूद वह अभी भी धरती का मस्तिष्क होने की अपनी हैसियत बाकायदा कायम रखे हुए है। यह वह मस्तिष्क है जो हमारी टेक्नोलाजिकल-इण्डस्ट्रियल, प्लनेटरी इण्टरस्टेलर संगणनाओं को निभाता है।' हाइडेगर

सोचता है कि चूंकि समूचा संसार इस वक्त इसी टक्नोलॉजिकल सभ्यता की गिरफ्त में है, इसलिए इस बुराई का इलाज भी उसी के स्रोत में निहित होना चाहिए यानी उसी यूनानी स्रोत की उन संभावनाओं में, जो अनछुई ही रह गई थी। क्या यह सम्भव है ? क्या ऐसे किसी भी उपक्रम पर पश्चिमी मुहावरे के ही 'ऑब्स्क्योरेंटिज्म' का आरोप नहीं लगेगा ? हाइडगर निश्चय ही दूसरी विश्व सभ्यताओं के आरम्भिक स्रोतों से जुड़ने सहयोग लेने की बात भी करता है, पर यहां पर सवाल उठता है कि क्या इन दूसरी विश्व सभ्यताओं में 'मेडिटेटिव' और 'कैलकुलेटिव' थिंकिंग का उसी तरह का सम्बन्ध निहित रहा है, जिसकी शिकायत वह यूरोपीय संस्कृति के इतिहास से करता है ? अगर नहीं, तो यह पहल यूरोप की बजाय उन दूसरी विश्व सभ्यताओं की तरफ से क्यों नहीं हो सकती या क्यों नहीं होनी चाहिए ?

अगर हम अपनी सभ्यता और संस्कृति के हिसाब से देखें तो यह निहायत जरूरी होगा कि हम सिर्फ एक दीर्घकालीन प्राचीन इतिहास को ही न देखें बल्कि पिछली सदी और खासकर इस सदी के भारतीय जीवन और चिंतन पर भी एकाग्र हों। निश्चय ही हमारा आज का संकट और आज की भविष्य चिंता का रूप भी हमारे निकट इतिहास का ही ज्यादा सीधा प्रतिफलन है और देश के भविष्य के बारे में लिए गए निर्णय भी इसी इतिहास की उपज हैं इसलिए भी हम इस सदी के सबसे दूरदृष्टा मनीषियों और कर्मयोगियों पर अपना ध्यान केंद्रित करना पड़ेगा जो पश्चिमी जीवन और विचारों के प्रति पूरी तरह से खुले रहकर भी किसी सुरक्षा-ग्रंथि या मोह से परिचालित नहीं हुए और जिन्होंने ऐसा मौलिक चिंतन या कर्म किया जो उनकी अपनी संस्कृति और परम्परा से जुड़ा होते हुए भी समूचे विश्व के लिए अर्थवान् हो। ठेठ आज की बात करें तो ऐसा लगता जैसे कैलकुलेटिव थिंकिंग ही मैडिटेटिव थिंकिंग पर हावी हो रहा है। शिक्षा नीति के प्रस्तावित मसविदे को देखने पर भी मन पर वही छाप पड़ती है। क्या यह छाप सही है ? अगर हां, तो संस्कृति के क्षेत्रों में क्या स्थिति है ? क्या हमारी कविता और हमारे दार्शनिक चिंतन ने भी 'कैलकुलेटिव थिंकिंग' की ही लीक पकड़ ली है ? यदि हां, तो उसका उन चिंतकों और कर्मयोगियों में क्या और किस तरह का सम्बन्ध है जिनका उल्लेख हमने अभी-अभी किया और जिन्हें हम राष्ट्र निर्माता और क्रान्तदर्शी और जाने क्या-क्या कहते रहे हैं ? और यदि नहीं, तो क्या कारण है कि हमारे साहित्य और चिंतन का यह मैडेटेटिव रुझान या स्वरूप देश का भविष्य निर्धारित करने वाले उस 'कैलकुलेटिव थिंकिंग' पर कोई प्रभाव नहीं डालता ? क्या वह

शक्तिहीन है ? क्या वह दुविधाग्रस्त है ? क्या वह भविष्य निरपेक्ष है ? क्या उसका 'मैडिटेटिव थिंकिंग' भी मौलिक न होकर एक छायाजीवी मस्तिष्क की ही उपज है ?

जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा भविष्य कथन निषिद्ध तो नहीं, पर एक काफी संदिग्ध चीज है। फिर साहित्यिकों से उसकी अपेक्षा क्यों की जाती है? क्या इसलिए कि कवि को द्रष्टा, क्रांतदर्शी और जाने क्या क्या कहा गया है ? क्या द्रष्टा कवि होना और प्रॉफेट या पैगम्बर होना एक ही बात है ? दरअसल, मुझे लगता है साहित्यिकों से यह अपेक्षा कोई न करता यदि वे स्वयं ही आ बैल मुझे मार वाली कहावत को चरितार्थ करने पर न तुले होते। समय समय पर वे ही तो मनुष्य के भविष्य को लेकर या अपनी विधा के ही भविष्य को लेकर अटकलें भिड़ाते देखे जाते हैं। अब देखिए, यह श्री अरविन्द का ही कथन है कि 'मन और जीवन के किसी भी क्षेत्र में उनके भविष्यत् मोड़ या विकास को देखने का प्रयास करना सदैव एक खतरनाक व्यापार है, इसलिए कि जीवन और मन के देवता अकल्पनीय रूप से स्वतन्त्र और आत्म रचनात्मक होते हैं।' पर मजे की बात यह है कि यह बात उन्होंने और कहीं नहीं, अपने द फ्यूचर पोएट्री नामक ग्रंथ में ही कही है — जहां वे स्वयं ही इस खतरनाक व्यापार में जुटे हैं। यह प्रवृत्ति आधुनिक काल के लेखकों में विशेष लक्ष्य की जा सकती है। पुराने कवियों के लिए अपने अग्रजों को स्मरण कर लेना — 'इदं कविभ्यो पूर्वेभ्यो' कह देना पर्याप्त था, मध्यकालीन संत कवि को यह भी जरूरी जान पड़ा कि वह आगे आने वालों का भी स्तवन करे 'भए जे अहहिं, जे होइहहिं आगे प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे'। मगर आधुनिक कवि का काम लगता है, इस स्वस्तिवाचन से भी नहीं चलता। उसे समकालीन युग प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, युवतर कवियों में भविष्य की आहट सुनते रहना पड़ता है, यह भी पूछना पड़ता है कि 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है ?'

मुसीबत मगर यह है कि साहित्यिकों की भविष्यवाणियां अक्सर गलत भी साबित हो जाया करती है। जेम्स ज्वाइस की *यूलिसीज* के प्रकाशन के साथ ही *उपन्यास की मृत्यु की घोषणा कर दी गई मगर उपन्यास है कि तबसे* लगातार फल फूल रहा है और मेरा तो यही ख्याल है कि कविता से बहतर ही फल फूल रहा है। एक दूसरा उदाहरण भी देख लेना दिलचस्प होगा। आर्नाल्ड ने कविता के बारे में भविष्यवाणी की थी कि वह आने वाले युगों में धर्म की जगह ले लेगी। मगर वैसा कुछ हुआ नहीं। इससे उलटे ही आसार नजर आ रहे हैं क्या यूरोप में, और क्या भारत में। यह उदाहरण दिलचस्प

होने के साथ साथ शिक्षाप्रद भी है इसलिए, कि आनाल्ड अपने समकालीनो में सबसे ज्यादा आधुनिक और अग्रगामी था। 'फिर भी अगर वह प्रॉफेट के रूप में विफल हुआ तो इससे यही साबित होता है कि समसामयिक या अग्रगामी होना भी भविष्यदर्शी होने के लिए पर्याप्त नहीं है। श्री अरविंद भी एक अंतर्दृष्टि सम्पन्न आलोचक की तरह आनाल्ड की कविता को आध्यात्मिक मूल्य की दृष्टि से सबसे सच्ची बताते हैं, इसलिए कि 'आर्नाल्ड समसामयिक चिंतन के गम्भीरतम स्वरो को छेड़ते है।' किंतु इस सराहना के बावजूद वे यह कहने से नहीं चूकते कि 'आर्नाल्ड लेकिन आगे भविष्य में देखने में असफल हो जाते हैं।'

साहित्य में प्रकट होने वाली भविष्य की चिंता दो तरह की होती है एक तो मानव जाति के भविष्य की चिंता और दूसरे स्वयं साहित्य या उसकी किसी विधा को लेकर चिंता। कहीं कहीं वे इकट्ठी भी मिल जाती हैं जैसे श्री अरविन्द की फ्यूचर पोएट्री में। आर्वाचीन काव्य पर विचार करते हुए श्री अरविन्द अपने समय को संक्रमण का युग बताते हैं और उसके लक्षण यों गिनाते हैं मानवता के नवयुग की तैयारी, अतीत के साँचों, विचारों और क्षमताओं से असंतोष, श्रम और कर्म की गरिमा का आग्रह, भाषा, लय, रूपविधान की गहनतर शक्तियों को पाने की कामना। वे लय की नई शक्ति के लिए किए जा रहे प्रयास को आने वाले परिवर्तन का पहला संकेत मानते हैं और वाल्ट व्हिटमैन की खूब सराहना भी करते हैं। पर उसके इस विचार से अपनी स्पष्ट असहमति जताते हैं कि आत्मशासित लोकतांत्रिक अराजकता के लिए छन्द को बिल्कुल ही अलग फेंक देना है। यीट्स को वे मात्र इसलिए नहीं सराहते कि उसकी कविता अदृश्य चरयात्मक जीवन के साथ मानव के पार्थिव जीवन का सगुम्फन करती है,' बल्कि इसलिए भी सराहते हैं कि वह 'परम्परागत छन्दों में नए युग की लय को इस खूबी से पकड़ सका।' वे भविष्य की कविता को ऐसी देखना चाहते हैं जो वैदिक मंत्र की तरह साक्षात् दृष्टिपरक श्रुति को मूर्तिमान करे और मानव पुरुषार्थ के फलस्वरूप हुई अब तक की सारी प्रगति को भी ध्वनित करे। उनका यह भी कहना है कि भविष्य का यह नया विजन पुराने साक्षात्कारों की तरह धर्मतंत्रीय या दीक्षागम्य रूप नहीं लेगा। वह एक ऐसी दृष्टि होगी जो जीवन और मन के देवताओं को धर्मदर्शन के मर्म में ही नहीं, विचार और कला में ही नहीं, बल्कि सामान्य जीवन और कर्म में भी मूर्तिमान करेगी। मनुष्य अब व्यक्तिशः ही नहीं, जातितः एक बृहत्तर सत्य में जीने का प्रयत्न करेगा। निश्चय ही यह भी एक यूटोपिया है और इसके पीछे योग और वैदिक साहित्य का मर्मी अवगाहन ही रही

उस युग के विचार प्रवाहों का भी सार्वभौमिक दबाव निश्चय ही होगा जिसने डार्विन नीत्शे, फ्रायड और कार्ल मार्क्स को जन्म दिया। किन्तु श्री अरविन्द के यूटोपिया का अपना स्वतन्त्र स्थान है — इन सबसे अलग और विलक्षण मानकर इसलिए भी, कि वे यह मानकर चलते हैं कि 'इस युग में मानव मन की जरूरत न सिर्फ काव्य में, बल्कि स्वयं विचार में और आत्मा में, तार्किकता और आलोचनात्मक बुद्धि की नृशंसता को कम करने की, जीवन की शक्ति और सचाई में लौटने की है।' हेगेल की 'स्पिरिट' से उसके इतिहासवाद से श्री अरविन्द की इस दृष्टि का स्पष्ट पार्थक्य देखा जा सकता है। उसी तरह मार्क्स और नीत्शे से भी। श्री अरविन्द जहाँ एक ओर यह मानते हैं कि 'आत्मा समस्त जीवन है, क्योंकि वह जीवन से ज्यादा बड़ी है', वहीं वे यह भी बलपूर्वक दुहराते हैं कि आत्मा और जीवन परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि आत्मा की वृहत्तर शक्ति ही जीवन को वृहत्तर शक्ति को ले आती है।' एक कवि के रूप में उनका यह भविष्यद्रष्टा रूप इसलिए भी ग्राह्य है कि वे मानकर चलते हैं कि काव्य और कला इस सत्य को बोधगम्य बनाने के लिए सबसे उपयुक्त और सशक्त माध्यम हैं क्योंकि वे आत्मा और जीवन के बीच, अभौतिक और मूर्त के बीच जन्मजात मध्यस्थ हैं। उनके कथनानुसार यह मध्यस्थता भविष्य के काव्य के मुख्य कार्यों में से एक होगी। साहित्य की आवाज अपने विशिष्ट ढंग से किस तरह धार्मिक शिक्षा और आध्यात्मिक अनुभव से — बिना अपनी स्वतन्त्रता खोए अनायास जा जुड़ती है इसके दृष्टान्त स्वरूप वे एण्टीगोने के उस वाक्य को उद्धृत करते हैं, जो उनके क्रियॉन द्वारा अपने ऊपर लगाए गए देशद्रोह और कानून भंग के आरोप के उत्तर में कहा था मैं घृणा से नहीं, बल्कि प्रेम में जोड़ने को पैदा हुई थी।

श्री अरविन्द ने अपनी शिक्षा के दौरान जो परिवेश देखा था, वह उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों का यूरोप था। यह समय एक साथ ही वैज्ञानिक प्रगतिवाद रहस्यवाद तथा ह्रासोन्मुखी कलावाद का भी युग था। परस्परविरोधी अटकलों और भविष्यवाणियों का एक घटाटोप ही छाया था उस वक्त। एक ओर हर्बर्ट स्पेंसर और एच जी वेल्स सरीखे असीम प्रगतिवादी विज्ञानवादी लोग थे तो दूसरी ओर यूटोपियन समाजवादी और तीसरी ओर मलार्मे यीट्स सरीखे रहस्यदर्शी कवि। इस काल के अधिकतर आशावादी दावे और अटकलें बीसवीं सदी के शुरू के दो दशकों में ही धराशायी हो गए। कवि यीट्स सन् 1916 के आयरिश विद्रोह पर लिखी एक कविता में 'एक भयानक सौन्दर्य को जन्म लेते' देखता है और सेकण्ड कमिंग में यूरोपीय सभ्यता के ईसाई चक्र के अवसान की घोषणा करता है। यह अकारण नहीं है कि यीट्स के परवर्ती

पाश्चात्य से अपरिचित होते हुए भी श्री अरविन्द ने द फ्यूचर पोएट्री में यीटस को महत्वपूर्ण स्थान दिया है और उसके कृतित्व में भविष्य की कविता का पूर्वाभास पाया है।

मैंने कहा कि उन्नीसवीं सदी की भविष्यवाणियाँ बीसवीं सदी में धराशायी हो गई। पर इस कथन में अतिव्याप्ति दोष है। यह ठीक है कि उन्नीसवीं सदी के विज्ञान और बीसवीं सदी के विज्ञान के बीच काफी अन्तर है यह भी ठीक है कि जिस कोटि की आलोचना इस वैज्ञानिक आशावाद की प्रौद्योगिकी की अब वहाँ होने लगी है, स्वयं दार्शनिक क्षेत्रों में, वह भी अभूतपूर्व है। किन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि यूरोप के भूतपूर्व उपनिवेशों के बुद्धिजीवी भी उसी तरह सोचते होंगे। रूस और भारत के दृष्टान्त काफी होंगे। उन्नीसवीं सदी का रूस भी रूसोफिल बुद्धिजीवियों की दृष्टि में यूरोप का सांस्कृतिक उपनिवेश हुआ जा रहा था। पर यूरोफिल बुद्धिजीवी यूरोपीय विचारधाराओं के कायल थे। जीत अन्त में यूरोफिलों की ही हुई पर ऐसी जीत, जिसकी स्वयं उन्होंने भी कल्पना नहीं की होगी। ऐसी जीत जिसने स्वयं यूरोपीय संस्कृति को ही तड़का के रख दिया। भारत में श्री अरविंद और गांधी के बीच तथा गांधी और टैगोर के बीच ठीक उसी तरह का रूसी नमूने का द्वन्द्व था—इण्डोफिल और यूरोफिल का यह कहना तो जरा मुश्किल लगता है। पर क्या गांधी और नेहरू के बीच कुछ कुछ उस तरह का द्वन्द्व नहीं दिखाई देता ? यदि हाँ तो क्या मौजूदा लक्षणों को देखते हुए हम यह भविष्यवाणी करेंगे कि जिस तरह मार्क्स की भविष्यवाणी यूरोप में न फल कर रूस में फली उसी तरह अब भारत में आगुस्त कॉम्ते का 'मैनजरियल रिवोल्यूशन' का सपना फलने जा रहा है ? पर यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो क्या ये लक्षण उस दर्पण में दिखाई देते हैं ?

तो, यदि यूरोप की भविष्यवाणियाँ हम पर लागू हो रही हैं तो इसका मतलब यही न हुआ कि राजनीतिक तौर पर सिरमौर न रहते हुए भी यूरोप का दिमाग विश्व का दिमाग बन ही गया है। तब फिर हमारे भविष्य का सवाल ही कहाँ है जो भविष्य उनका है वही भविष्य हमारा भी है।

या फिर हम यही मनाएँ कि भारत अभी भारत बने रहने की लड़ाई नहीं हारा है और उसका भविष्य न काम्ते की मनजरिल क्रान्ति में है, न मार्क्सवादी क्रान्ति में। वह क्या होगा यह अभी भी तय होना है।

पर यह तय करने की बात कहाँ से आई ? जो तय किया जा सकता है वह भविष्य ही क्या और उसकी भविष्यवाणी भी क्या। दूसरी ओर जो पहले से तयशुदा हो कवि यीट्स द्वारा बनाई गई जन्मकुण्डली की तरह वह भी एक

कार्यात्मक नियतिवाद ही है — जो हमारे जयशंकर प्रसाद की 'नियति' की तुलना में भी नहीं ठहरता। प्रश्न है, क्या इतिहास के लौह नियमों से अलग, हेगल के 'एब्सोल्यूट' की जकड़बंदी से भी अलग काल गति को परखा जा सकता है? उदाहरण के लिए जब गांधी जी हिंद स्वराज में कहते हैं कि 'अंग्रेजों की गुलामी से तो हिन्दुस्तान आजाद हो जायेगा किन्तु अनीति से पैसे वाला बना हुआ हिंदुस्तान कभी गुलामी से नहीं छूटेगा' तो क्या वे उस तरह का इतिहासवादी भविष्यकथन कर रहे हैं? यदि वे जब उसी सिलसिले में आगे घोषित करते हैं कि 'अगर धनवान् लोग स्वेच्छा से अपने संग्रह का वंचितों के हित में त्याग करने को तैयार न हुए तो सच मानिए उस देश में खूनी क्रान्ति हुए बिना नहीं रहेगी,' तो क्या उनकी दृष्टि और भाषा प्रॉफेटों जैसी है? इसी तरह जब श्री अरविन्द कहते हैं कि 'अब भविष्य न तो भौतिकवाद का है न प्राणिस्तावाद का और न दूरस्थ निस्संग अध्यात्मवाद का, भविष्य है मनुष्य की सत्ता की सामंजस्यपूर्ण सम्पूर्णता का' तो क्या उनका विकासवाद और भविष्यवाद हेगलीय, नीत्शियन या आरतेगो गासिया जैसा है?

इस लिहाज से देखा जाय तो श्री अरविन्द और महात्मा गांधी एक ओर दिखाई पड़ेंगे और डार्विन कॉम्त हक्सले और मार्क्स दूसरी ओर। तो क्या अन्तर एक भविष्य दृष्टियों का नहीं धर्म दृष्टियों अथवा विश्व दृष्टियों के बीच होता है? और क्या वही एक द्रष्टा और एक पैगम्बर की भविष्य दृष्टियों के बीच झलकता है? कहा जाता है कि मार्क्स ने हेगेल के दर्शन को उलट कर सर के बल खड़ा कर दिया। क्या अरविंद और गांधी की दृष्टियों के बीच उस तरह का प्रतीप सम्बन्ध है? कहा जा सकता है — कहा ही जाता रहा है कि गांधी जी की दृष्टि अतीतोन्मुखी है अरविन्द की दृष्टि भविष्यवादी, और इसलिए दोनों ही अप्रामाणिक हैं। एक राम राज्य के सपने में डूबा है तो दूसरा 'दिव्य जीवन' का सपना दिखा रहा है। मगर यदि ऐसा हो तो इसमें एक साहित्यकर्मी के अपने अनुभव की दृष्टि से कहां कोई असंगति है? यदि तुलसीदास के लिए अपने काल की चुनौती के सम्मुख राम कथा की पुनरचना स्वाभाविक और पर्याप्त प्रत्युत्तर हो सकती है तो गांधी जी की भविष्य के भारत की कल्पना क्यों अतीत में पलायनेच्छा है? फिर यह जो अतीतोन्मुखी और भविष्यवादी जैसी कोटियां हैं, वे क्या काल और सत्ता के साथ हमारे अपने सम्बन्ध में से गढ़ी गई शब्दावली हैं? क्या वह काल चक्र सम्बन्धी हमारे अपने ज्ञान प्रतीकों से जुड़ती है?

हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जब राजनीतिक तकनीकी परिस्थितियों ने

पश्चिमी और भारतीय जीवन पद्धतियों को माना एक ही भाड़ में झोंक दिया है। नित्राजा लोगों के बीच, दोनों की मूल प्रतिज्ञाओं के बीच किसी प्रकार का संतुलन और समायोजन ढूंढ़ने की बात अनमेल नहीं लगती। तथ्य मगर यही है कि ऐसा संतुलन और समायोजन न तो अभी तक ढूंढ़ा जा सका है, न निकट भविष्य में ही उसकी कोई खास उम्मीद दीखती है।

युगान्त जैसी प्रतीति के सामने भविष्य की चिंता स्वाभाविक है। वास्तविक और मनुष्य साध्य प्रलय की सम्भावना का साक्षात् मनुष्य के भविष्य के बारे में जिस तरह दार्शनिकों को चिंतित करता है उसी तरह साहित्यकार को। ऐसा ही युगान्त शायद महाभारतकार की कल्पना को भी प्रत्यक्ष था। तो क्या हम दूसरे महाभारत की स्थिति में हैं? एक और युग का—महाभारत द्वारा उद्घाटित युग का भी—अन्त होने जा रहा है? क्या कलिकाल की अवधि द्वापर से भी संक्षिप्ततर है? क्या बिगड़न की रफ्तार और सुधरने की रफ्तार के बीच विलोम समानुपात होता है? क्या भविष्य पुराण जैसी भी कोई चीज होती है? क्या है यह भविष्यपुराण? भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन? तब फिर वह भविष्य पुराण कैसे हो सकता है? मजे की बात यह है कि इस नाम से जाने जानेवाले पुराण की उल्लेखनीय विशेषताएँ दो ही हैं एक तो सूर्योपासना और दूसरे उद्भिज्ज विद्या का वर्णन। मुख्य कथा तो वही है द्वापर के युग पुरुष कृष्ण के पुत्र साम्ब का कुष्ठरोग से पीड़ित होना और उसकी चिकित्सा के लिए शाकद्वीप से ब्राह्मणों को बुलाया जाना। ये ब्राह्मण सूर्यमन्दिर में जाकर सूर्य की पूजा करते हैं जिसके फलस्वरूप साम्ब की रोगमुक्ति सम्भव होती है। एकाएक सूर्य का माहात्म्य क्या पहले नम्बर पर आ गया? और रोगमुक्ति के पुरोहितों का भी ऐसा अकाल कैसे पड़ गया कि उन्हें शाकद्वीप से बुलाना पड़ा—ऐसे प्रश्नों का मन में उठना अस्वाभाविक नहीं है? यह भी, कि उद्भिज्ज विद्या के वर्णन की यहाँ पर प्रेरणा कैसे हुई?

बेट्टी हैमन का कहना है कि भारत की जीवन दृष्टि 'वानस्पतिक' है। जिस तरह एक नन्हा सा बीज धीरे धीरे उगता बढ़ता हुआ अपने फलागम काल तक पहुँचता है उसी तरह मानवी प्रवृत्तियाँ भी असंख्य पुनर्जन्मों में विकसित होती रहती हैं जब तक उनका पूर्ण प्रस्फुटन या परिपाक नहीं हो जाता। महज साठ सत्तर वर्षों की उम्र का जीवन इतिहास इन अन्तर्निहित प्रवृत्तियों और संभावनाओं के पूर्ण प्रस्फुटन के लिए कैसे पूरा पड़ेगा? उसके लिए लगेगी परस्पर संबद्ध जीवनों की एक लंबी कतार जो अतीत में भी बहुत पीछे गई हो और आगे भी भविष्य में बहुत दूर तक जाने वाली हो।

पश्चिमी सभ्यता मे—आमतौर पर उसके आधुनिक काल म समय के मूल्य को अत्यधिक महत्व दिया गया है। ज्ञात इतिहास की काल सीमा से परे देखना कठिन है इसलिए एक सीमित वतमान और सीमित, पूर्वानुमेय भविष्य पर ही अपना पुरुषार्थ एकाग्र करना है। भारत, इसके विपरीत काल के सभी चरणो को परस्पर सबद्धता और परस्पर सापेक्षता म देखता है। योगदशन के मुताबिक भी प्रत्यक्ष सीमित वतमान या हाल का अतीत निर्णायक महत्व नही रखते। वहाँ भी बल भविष्य की असीमित क्षमताओ पर ही है, क्योकि इस दृष्टि के अनुसार काल का एकमात्र उवर क्षेत्र भविष्य ही है। इस तरह देखा जाय तो भविष्य के प्रति भारतीय चेतना का लगाव दूसर लोगो की तुलना मे कुछ विलक्षण जान पडता है और यह स्वाभाविक भी है क्योकि इस चेतना की विशेषता ही यह है कि यह व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त से अधिक सवदित होती है और स्थिति की अपेक्षा गतिशीलता ही हमारी कल्पना को अधिक उत्तेजित करती रही है।

हमने आधुनिक पश्चिमी साहित्य की अतीतोन्मुखता की चर्चा करते हुए लक्ष्य किया था कि अतीत यू तो सदा ही साहित्य का उपजीव्य रहा है पर आज स कुछ अतिरिक्त सजनात्मक मूल्य प्राप्त हो गया है। मगर दूसरी ओर, यदि हम उस साहित्य को देख जो भविष्य पर ही एकाग्र होता है, ता हम पाते है कि वह भी एक तरह से भविष्य को ही अतीत बना देता है उसे एक तरह की फैण्टेसी या भविष्यपुराण का रूप देकर। सजनात्मक कल्पना की यह भी एक मौलिक प्रतिक्रिया हो सकती है। हक्सले काफ्का और किसी सीमा तक नाइण्टीन एटी फोर का लेखक या द बुक आव लाफ्टर एण्ड फोरगेटिंग का मिलान कुदेरा इस प्रक्रिया के कुछ दिलचस्प उदाहरण है। यह भी एक तरीका है उस भविष्य से एक मौलिक प्रतिशोध लेने का, जो यान्त्रिक ढग से पूर्वानुमेय बना दिया जा रहा है। याकि जिसे बनाने मे स्वय साहित्य को ही उसकी अपनी भूमिका स बेदखल किया जा रहा है। क्या यह एक रोचक विरोधाभास ही नही कि भविष्य को इस तरह अतीत बनाकर ही आधुनिक साहित्य अपन भविष्य की रक्षा का उपक्रम करता है?

वत्सलनिधि द्वारा आयोजित लेखक शिविर मानसर (जम्मू) अक्तूबर १९८५ म दिया गया लिखित व्याख्यान

सृजन-कर्म   दृष्टि और सम्प्रेषण

द हैप्पी करक्टरिस्टिक दट बिलाग्स टु एवरी क्लासिक, दट व्हिच मक्स इट क्लासिक एण्ड इम्मोटल इज द एब्सोल्यूट हार्मनी ऑफ द टू फोर्सेज फाम एण्ड कण्टेण्ट ।

कोलिंगवुड (मोत्साट के बारे म)

हार्मनी बिटवीन विजन एण्ड टेक्नीक्स वॉज दि करेक्टरिस्टिक आफ द ट्रेडीशनल कम्युनिकेशन सिस्टम इवॉल्व्ड थ्रू सेंचुरीज आफ एक्स पीरिय स एण्ड इनोवेशन । दिस हार्मनी वाज आलसो दि करक्टरिस्टिक आफ नेशनल कम्युनिकेशन आफ द हीरोइक एज आव इण्डियन नेशनलिज्म । वी मस्ट टप बाथ दि ऐशन्ट एण्ड दि मोर रीसेण्ट नेशनल हरिटेज टुटे एण्ड करी इट फारवड बाई एडाप्टिंग इट टु द न्यू एरा आफ रपिडली एडवासिग कम्युनिकेशन साइस एण्ड टेक्नोलाजी ।'

पी सी जोशी

(कम्युनिकेशन एण्ड नशन बिल्डिंग पसपक्टव एण्ड पौलिसी)

प्रस्तुत विषय की परिकल्पना जिन तीन शब्दा के सहारे की गई है, उन्ही को पहले परिभाषित कर लेना जरूरी जान पडता है। लखक या कलाकार के अन्यान्य सष्टा के बीच एक सकट आज यह भी है कि 'सृजन या 'विजन' (दृष्टि/दशन/स्वप्न) पर जिस प्रकार का दावा उसका रहता आया था उस प्रकार का दावा करने वाले बहुत स दूसर लोग भी हो गए हैं शिक्षाविद्, राजनीतिज्ञ समाजशास्त्री, वैज्ञानिक—सभी 'क्रिएटिव' हैं सभी धडल्ले स अपन अपने विजन की चचा करत ह और इतना ही नही, कलाकार के 'सृजन' और विजन की तुलना मे इनक 'सृजन और विजन की साख निश्चय ही ज्यादा तगडी हो गई जान पडती है, क्योंकि एक बहुत ही जाहिर और मोटे मायन म इनका सृजन और विजन' मानव समाज का ज्यादा तात्कालिक ढग से और ज्यादा दिखाई दन वाल असर क साथ प्रभावित करन की स्थिति म आ गया है। अठारहवी सदी के प्रख्यात कवि अलेक्जण्डर पोप न वैज्ञानिक न्यूटन का श्रद्धांजलि दत हुए लिखा था कि प्रकृति और प्रकृति क नियम जब

पूरी तरह अंधेरे म डूबे थे तभी यूटन न अवतरित होकर ईश्वर की तरह 'लट देयर बी लाइट' का मत्र फूका और बस, सब कुछ प्रकाशित हो गया। क्या हम आसानी स कल्पना कर सकते ह कि बडी से बडी कलाकृति के बार म कोई वैज्ञानिक ऐसा उद्गार प्रकट कर सकता है ?

यह मानो बिसमिल्लाह था—आधुनिक युग मे वज्ञानिक सृजन-कम के सामन कलात्मक या साहित्यिक सृजन कर्म के अपेक्षाकृत निस्तेज पडत जाने का । रोमण्टिक कवि कीटस न भले यह दावा अपनी कविता के भीतर ही जगाया हो कि 'ब्यूटी इज ट्रुथ ट्रुथ ब्यूटी,'' वह दावा स्वय उसके प्रशसको को ही अतिरिक्त और अनगल लगता रहा। और जब बीसवी सदी के कवि एलियट न अपन उस प्रतिद्वन्द्वी दावेदार के सृजनकम और विजन स अपन सृजन कम और विजन को अलगाना चाहा—यह कहते हुए कि वज्ञानिको की कल्पना-शक्ति तो दोयम दरजे की हुआ करती है,' तो यह दाव भी उलटा पड गया। क्यो ? एक तो इसलिए कि यह क्रिया नही, प्रतिक्रिया थी और वास्तव मे एलियट खुद अपनी नई कलादृष्टि को, खुद अपन नए काव्य—विजन को परिभाषित करन के सिलसिले मे विज्ञान स ही रूपक उधार लेन का विवश हुआ था, और दूसरे इसलिए भी, वह उसी प्रतिक्रिया के चलते वैज्ञानिक दृष्टि को ललकारत हुए एक दूसरी—और उतनी ही साहित्येतर दृष्टि के आगे समर्पित हो गया। इसे केवल कवि सुलभ नम्रता कहके नही टाला जा सकता कि एलियट अपनी नई काव्य दृष्टि और उसे फलीभूत करन वाले युगातरकारी सप्रेषण सम्बधी आविष्कारो के बावजूद यही मानकर चलता था कि 'काव्य अतत एक ऊचे किस्म का मनाविनाद ('ए सुपीरियर फाम आव एम्यूजमैण्ट)ही है।' तो जहा सबसे समथ और सबसे अधिक दृष्टिवान् मान जान वाल कवियो का खुद कविता के बारे म ऐसा क्षमायाची भाव हो, वहा सप्रेषण-क्राति के इस युग म साहित्य और कला से ' सत्य को जानने और पाने की अपेक्षा भला किसे होगी ? ऐसे मे साहित्य या कला या सगीत को 'ज्ञान का एक विशिष्ट और विलक्षण प्रकार भी भला कौन मानन को तयार होगा ? अधिक स अधिक यही हो सकता है कि हमारे सोशल साइटिस्ट अपन 'विज़न' का समाज बनाने के लिए आधुनिकतम सचार माध्यमो स जो भी 'पाजिटिव'सदेश प्रसारित करन के कार्यक्रम सुझाएँ, उनमे साहित्य भी एक साधन सामग्री के रूप मे खप जाए। क्या पुराने ज़माने से ही साहित्य का उपयोग इसी तरह मनोरजन के जरिए जनता को नतिक-सास्कृतिक दीक्षा के लिए ही—नही किया जाता रहा है ? किसी भी समाज को बनाने और बनाए रखन वाले मूल्य और आखिर कस प्रभावी होते हैं ? 'ब्रह्मानन्द सहोदर माना जान

वाला काव्य भी आखिर पहले सहृदय सामाजिक तक सम्प्रेषित होकर ही तो फिर धीरे धीरे परम्परागत सचार माध्यमो के जरिए व्यापक समाज की सास्कृतिक जरूरतो को पूरा करने के लिए प्रयोजित होता रहा कि नही ? बल्कि, अपनी मूल प्रेरणा मे जो रचना जितनी ही 'स्वान्त सुखाय' थी स्वय रचनाकर्मी के अनुसार—वह अपने सामाजिक फलितार्थों मे उतनी ही 'बहुजनहिताय' साबित नही हुई ?

मगर क्या यह समीकरण निर्दोष है ? क्या परपरागत सचार माध्यमो से जो काम जिस तरह लिया जाता रहा, आधुनिक सचार माध्यमो से वही काम उसी तरह लिया जा सकता है ? क्या दोनो के उपयोक्ता और गृहीता समान रूप से स्वाधीन और समान रूप से समाज के प्रति (तथा सस्कृति, यानी सम्प्रेष्य वस्तु के उत्पादक सर्जको के 'विजन' के प्रति) उत्तरदायी हो सकते है ? यह एक बहुत टेढा सवाल है। सृजन कर्म एक अपूर्वानुमेय घटना है और आधुनिक सचार माध्यमो का ही नही, आधुनिक ज्ञान मीमासाओ का भी पूरा जोर और पूरी वृत्ति इसके विपरीत जान पडती है। दोनो के बीच प्रकट सहयोग की बजाय एक प्रच्छन्न द्रोह का दृश्य ही इस पूरे दौर मे उभरता दीख पडता है। तब फिर ?

यहाँ पर सृजन और सम्प्रेषण के तात्त्विक और व्यावहारिक सम्बन्ध पर थोडा गौर कर लेना होगा। आधुनिक कवि एक दोहरी प्रतिश्रुति अनुभव करता है एक ओर तो वह सृष्टि और सत्ता के उस 'रहस्य' से सवेदित होता है जो अवाक् है, जिसे कहा नही जा सकता—जो 'वड विदिन द वड 'अनबुल टु स्पीक ए वड' है। दूसरी ओर वह अपने कविकर्म की सार्थकता ही इस तथ्य मे मानता है कि सामान्य आदमी की पहुँच जहा तक नही हो पाती, चेतना के सीमान्तो पर घटित होने वाले ऐसे अनुभवो को कवि ही भाषा निबद्ध करके मानव चेतना का विस्तार करता है। भाषा की सामर्थ्य को बढाकर इस तरह वह मनुष्य की अनुभव सामर्थ्य को ही बढा देता है।' कवि अज्ञेय भी कहते है कि 'साहित्य हमारे सवेदन का विस्तार करता है। स्पष्ट ही यह 'सवेदन का विस्तार' या 'चेतना के सीमान्तो का विस्तार' वाला साहित्यिक सृजनकर्म वज्ञानिक या दार्शनिक की सर्जनशीलता से गुणात्मक रूप से भिन्न होना चाहिए। अज्ञेय ने एक जगह साहित्य रचना और दर्शन के बीच अन्तर करते हुए यह मन्तव्य प्रकट किया है कि 'दर्शन की खोज उस सत्य की है जो किसी एक चौखटे मे नही है और साहित्यकार उस सत्य को पकडता और प्रस्तुत करता है जो उस चौखटे मे ही सत्य है, लेकिन उस चौखटे मे वह अद्वितीय रूप मे और नया सत्य है।' प्रश्न उठता है—क्या यहाँ दर्शन के अन्तर्गत विज्ञान को भी शामिल कर लिया जा सकता

है ? पूछा जा सकता है कि चौखटे से यहाँ क्या अभिप्राय है ? अज्ञेय इसी सिलसिले में आगे कहते हैं कि 'साहित्यकार एक ऐसे सत्य को देखता है जो कि चौखटे में है और उसको सम्प्रेष्य रूप में देखता है, दूसरे तक पहुँचाता है जबकि दार्शनिक का सत्य दूसरे तक नहीं भी पहुँचाया जा सकता है।' दूसरे शब्दों में, साहित्यिक सृजन-कर्म की विभेदक विशेषता यही है कि साहित्यकार का सत्य सम्प्रेष्य होता है और सम्प्रेषण की प्रेरणा उसमें मूलभूत महत्व रखती है। इस तरह सृजन-कर्म और सम्प्रेषण अविभाज्य हो जाते हैं एक को साध्य और दूसरे को साधन नहीं माना जा सकता। सत्य को एक चौखटे में देखना उसे सगुण, जीवन्त रूप में देखना है और यही उसे सप्रेष्य बनाता है। दूसरे शब्दों में यह अरूप को रूप देना है, अमूर्त का मूर्त करना है। नाम रूपात्मक सृष्टि के समानान्तर और समरूप ही यह सृजन कर्म है। नाम रूप के सहारे जो जीवन चलता है, उसी के सहारे, उसी के चौखटे में साहित्य स्रष्टा का सत्य भी सप्रेष्य होता है। इस तरह यह चौखटा सत्य की विकृति या विखण्डन न होकर उसी का एक सच्चा स्फूर्त अवतार है। दर्शन के सत्य से इस सृजन कर्म के सत्य का सम्बन्ध इसीलिए, देखा जाए तो उस तरह सीधे विरोध का न होकर कुछ कुछ वैसा ही है जैसा विशिष्टाद्वैत का अद्वैत से। गीता के दार्शनिक काव्य में इसीलिए जहाँ एक ओर श्री कृष्ण कहते हैं कि 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' वहीं दूसरी ओर वे यह भी कह सकते हैं कि 'सम्भवामि युगे युगे'।

चौखटे का सत्य सृष्टि सत्य है, मानुष सत्य है, जो निर्गुण निराकार सत्य का प्रत्याख्यान उस तरह न होकर उसका मानवीकरण है याकि जीवनलीला के पर्व में उसका आवाहन है। साथ ही वह मनुष्य के समूचे वेदन तन्त्र से ताल्लुक रखता है, न कि मात्र उनकी तर्क बुद्धि से। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही नाम और रूप की चर्चा करते हुए एक मर्म की बात कही है कि 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी/उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।' यह उभयप्रबोधकता ही नामकरण का, अर्थात् सृजन कर्म और सप्रेषण का असली मर्म और प्रयोजन है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने मध्यकालीन सन्त कवि रज्जब का दृष्टान्त देते हुए प्रकारान्तर से इसी बात को आगे बढ़ाया है। मूल उद्धरण अंग्रेजी में है, यथावत् देना ठीक होगा —

> व्हैन इट वाज नोन दैट रज्जब हैड रिसीव्ड हिज 'इल्यूमिनेशन', मैनफोक फार एण्ड नियर केम टु हिम एण्ड आस्क्ड 'व्हाट इज इट दैट यू सी ? व्हाट इज इट दैट यू हियर ?' ही आंसर्ड 'आइ सी द इटर्नल प्ले आव लाइफ। आई हियर हेवन्ली वॉयसेज सिंगिंग, गिव फार्म टु द यट अनफॉर्म्ड, स्पीक आउट एण्ड एक्सप्रेस।'

रज्जब की यह कथा, जाने क्या फिर से मुझे बाइबिल में वर्णित हज़रत मूसा और उनके साथी आरून की उस कथा की याद दिला रही है जिसका उल्लेख मैंने भूमिका में किया था। मूसा को भी रज्जब की तरह प्रकाश मिला, उन पर भी खुदा का नूर बरसा, उन्होंने भी इस अरूप अनुभव को रूप देने और उसे कह डालने की व्यग्रता अनुभव की। पर यहीं पर उनके और रज्जब के बीच फ़र्क है। रज्जब को जो साक्षात्कार हुआ, वह जीवन की अनादि अनंत लीला का साक्षात्कार था। वह दृष्टि भी थी और श्रवण भी। मूसा का साक्षात्कार इससे भिन्न था। कदाचित् इसीलिए रज्जब को जो संदेश सुनाई दिया, वह चूंकि नर का अपने आप में स्वयं नारायण की तरह सृजन धर्म निबाहने का, अरूप को रूप देने का, स्वधर्म निबाहने का संदेश था, इसलिए रज्जब उसे न केवल जनता को स्वयं अपने मुख से बता सके बल्कि उस संदेश को खुद भी अमल में ला सके, खुद ही जीवन लीला की दिव्यता को बता और गा सके। मूसा के साथ दिक्कत यह थी कि वे दिव्य संदेश को ग्रहण तो कर सकते थे किंतु संप्रेषित नहीं। रज्जब का साक्षात्कार एक सवाक और संप्रेष्य अनुभूति थी मूसा का साक्षात्कार एक अवाक और असंप्रेष्य अनुभूति। रज्जब का सत्य चौखटा में अवतरित मूर्तिमान, मूर्तिप्रेषणीय सत्य था, मूसा का सत्य उन्हें तोड़ने वाला। ('एन इमेज आस्क्स फार नम्स दाउ शल्ट बिलीव इन द स्पिरिट, चाजन वन ') अकारण नहीं कि मूसा को जो मिला था उसे जनता तक पहुँचाने के लिए उन्हें एक वाग्मी की जरूरत पड़ी जो खुद तो दिव्य अनुभव के लिए अक्षम है किंतु जो दूसरे के अनुभव को संप्रेष्य बना सकता है, उसे वाणी दे सकता है। मूसा का यह प्रयोजन पूरा करता है—आरून। इस दोनों का सम्बन्ध गणेश और व्यास जैसा या कि कृष्णार्जुन सरीखा जैसा न होकर बहुत विचित्र और विरोधाभासी है। क्या वह सत्य और सत्ता के साथ मानवजीव के सम्बन्ध की जन्मजात विडम्बना को दरसाता है? उसकी अनिवार्य ट्रेजिडी को? इसकी क्या गारण्टी है कि यह भाषा का धनी आरून मूसा के साक्षात्कार को यथावत् संप्रेषित कर सकेगा? उसे विकृत नहीं कर देगा? बाइबिल में इस प्रकरण से गुजरते हुए हम इन दोनों के बीच द्वन्द्व को—मूसा के असंतोष और आरून के आत्मविश्वासी हठ को भी—जगह जगह अनुभव करते हैं और यह अकारण नहीं है कि एक प्रख्यात जर्मन संगीतकार ने इस विषय को लेकर जो ऑपेरा रचा है — मोजेस एण्ड आरन— उसमें मूसा को ट्रेजिक हीरो के रूप में ही चित्रित किया गया है। नर नारायण संबंध की जो भी व्याख्याएँ या रूपक प्रतीक मिलेंगे, उनमें परस्पर सामंजस्य हो ही नहीं सकता, उनके बीच अनमेल और विग्रह ही हो सकता है, ऐसा शाएनबर्ग के संगीत नाटक का कथ्य है। जार्ज स्टाइनर का यह मानना है कि

मूल कथा म निहित विकट द्व द्व का परवर्ती पुरोहिता न काफी कुछ दवा और मिटा दिया है। उस सगीत नाटय म मूसा और आरून के बीच र असामजस्य का अन्त घोर पराजय और एक हताश चीत्कार के बाद की चुप्पी म होता है। यह चुप्पी शाएनबर्ग के मूसा की भी है जो गाता है और आरून की भी है जो बोलता है। अपन लोगो के लिए, यानी यहूदी प्रजा क लिए जिस निराली नियति का स्वप्न मूसा देखता है, वह एक ऐसे देवता की एकनिष्ठ उपासना का स्वप्न है जो मत्य मानव के लिए परम अगोचर है, जो मानवी अनुकरण की किसी भी कला स किसी भी तरह उसकी पकड म नही आ सकता। क्या यह यही समस्या नही है एक ओर अमूत सत्य और दूसरी ओर चौखटे म देखे गए सगुण सत्य के सम्बध की ? दशन की नतिमूलकता और कला साहित्य की सप्रेषणधर्मिता दोनो क्या अपनी-अपनी जगह स्वाभाविक और जरूरी नही। दोनो म विग्रह का सबध अर्थात् एक की कीमत पर ही दूसरे का प्रमाणित होना क्या अनिवाय है ? बल्कि देखा जाए तो मानव चेतना और मानव सस्कृति के विकास की दृष्टि से यह दूसरा सत्य—सप्रेषणधर्मी सृजन कम—ही अधिक महत्वपूण ठहरता है। क्योंकि वह हमारे सवेदन और चेतना का विस्तार करता है, इसलिए उस अगोचर सत्ता की दिशा म भी अधिक लयबद्ध तरीके स स्वय जीवन मे निहित और कायरत सत् चित् आनन्द की गति से ही आगे बढ़ता है और इस तरह अमूत सत्य की मात्र बौद्धिक व्याख्याओ या तक सरचनाओ म जो एकागिता होती है—परमाथ चिंतन की नतिमूलक अनासक्ति के विपरीत इन सिस्टमो मे जो आग्रह और विजिगीषा होती है—उसका वह परिहार और सतुलन भी करता है। निश्चय ही, व्यक्त और अव्यक्त, सगुण और निगुण के बीच का द्वद्व हमारी दाशनिक परम्परा म भी रहा है पर एक ओर सभ्यता के प्रारम्भ म ही वाक शक्ति के बारे मे हमारे यहाँ किया गया चिंतन और दूसरी ओर उसकी परिपक्व अवस्था म उपजा हुआ भक्ति का दशन भी सभवत निर्गुण और सगुण के एक अधिक सतोष जनक और अधिक फलप्रद विवकपूण सबध की ओर इगित करते हैं। यह अकारण नही है कि वेदो के अनुसार भी यह जगत् उस परम सत्ता का काव्य है और मत्य कवि अपन सृजन कम मे उस दिव्य कवि का ही अनुकरण करता है। यह भी आकस्मिक नही है कि मध्ययुग के तुलसीदास ने भी नाम और रूप की महिमा पर नए सिर से रचनात्मक बल दिया है 'नाम रूप दुई ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।

किन्तु परम्परा की बात करना सजन और सम्प्रेषण की समस्या के आधुनिक रूप से एक तरह का पलायन सा लगने लगता है। आखिर आधुनिक कला का

तो जन्म ही उस असंगति के अनुभव में से हुआ था जो कलाकार की नैतिक मनस्तात्विक अंतर्वस्तु और परम्परागत कलारूपों के बीच पैदा हो गई थी। ऊपर हमने जिस संगीत नाट्य की (मोजेज़ एण्ड आरन की) चर्चा की, वह सिर्फ एक पौराणिक कथा में भीतर भरने के लिए नहीं की थी। इस विषय वस्तु के निर्वाह और चुनाव दोनों के पीछे एक आधुनिक कलाकार की जो अंतर्विवशता रही है वह क्या है? क्या वह आज की जटिल चेतना के संदर्भ में स्वयं संप्रेषण की ही संभाव्यता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाती प्रतीत होती? बीसवीं सदी के कलाकार के वेदन तंत्र पर जो अभूतपूर्व दबाव पड़े—उनके चलते कई बार उसे अपनी कला पर, अपनी विधा की संप्रेषणक्षमता पर ही संदेह हो आया और कई बार उसने इस संदेह के निराकरण के प्रयत्न में ही जो रचना की, वह उसे एक पूरी तरह संप्रेष्य सत्य को प्रकट करने का संतोष दे सकी होगी — उसे अपने जीवनानुभव से उबरने का — सापेक्ष मुक्ति का — अनुभव दे सकी होगी, यह कह सकना ज़रा कठिन लगता है। मोजेज़ एण्ड आरन ऑपेरा का रचयिता शाएनबर्ग भी अपनी संगीत कला की संप्रेषणक्षमता के बारे में कुछ उसी तरह प्रश्नाकुल दीखता है जिस तरह काफ्का उपन्यास-विधा के बारे में, या पॉल क्ली चित्र कला के बारे में। आखिर क्या वजह है कि स्वयं कविता या कवि कर्म के ऊपर जितनी कविताएं बीसवीं सदी के कवियों ने लिखी हैं, उतनी पहले कभी नहीं लिखी गई? दूसरी ओर, अरूप को रूप देने की वृत्ति या ज़रूरत सृजन कर्म और संप्रेषण की ही नहीं सामान्य जीवन के कर्म कौशल की भी प्रेरणा और सार्थकता है। मगर आधुनिक जीवन की गति ही ऐसी है कि वह सामान्य जीवन में भी मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं उभरने देती। निर्वैयक्तिक यांत्रिकता और एकरूपता के आग्रह ने, लोकप्रिय पत्रकारिता, सिनेमा तथा संचार माध्यमों के द्वारा आरोपित छाया जीवन ने सृजनधर्मी संप्रेषण को और उसकी समझ को चारों ओर से आक्रांत कर लिया है। जहाँ पुराने नीतिशास्त्र की सीमा यह थी कि वह मनुष्य के प्रति मनुष्य की उदासीनता के प्रति पर्याप्त सजग नहीं हो पाता था, वहां नए नीतिशास्त्र में इसके ठीक विपरीत मानवीय सरोकार का एक ऐसा प्रचण्ड बौद्धिक अहंकार उभर कर आया जो मनुष्य के स्वयं अपनी मानवीय सीमाओं के विवेक को ही निगल कर उसे मानव नियति का और सारे वस्तु जगत् का एकमात्र नियामक मान बैठने के दंभ से भरने लगा। इसके साथ ही, प्रजातंत्र के भी जिस ऋणात्मक और सृजनद्रोही पहलू का खतरा ताकविल ने देखा था (कि 'समाज का जनतांत्रिक संगठन मानव मन की जिस आदर्श स्वाधीनता के लिए यों सबसे मुफीद है, मुझे भय है, कहीं उसी को प्रजातंत्र अंततः संकट में न डाल दे।

कहीं ऐसा न हो कि अपने ऊपर लगाए गए पिछले सारे बंधनों को तोड़ चुकने के बाद मनुष्य का मन इस तथाकथित बहुमत की जंजीरों में ही न जकड़ जाए)—वह खतरा भी साफ ही मंडराता दीखता है। कुल मिलाकर पश्चिमी समाजों की ओर उनकी देखादेखी हमारे भद्रलोक की भी हालत मानो हन्ना अरेण्ट के दुःस्वप्न को ही चरितार्थ करती लग रही है—

> इट इज क्वाइट कंसीवेबुल दट द माडर्न एज — व्हिच बिगैन विद सच एन अनप्रिसीडेण्टड एण्ड प्रामिसिंग आउटबर्स्ट आव ह्यूमन ऐक्टिविटी मे एण्ड इन द डेडलिएस्ट, मोस्ट स्टराइल पसिविटी हिस्ट्री हैज एवर नोन' [द ह्यूमन कण्डीशन, 1958]।

बहरहाल, इसके बावजूद, यह स्वाभाविक ही है कि आज के लेखक कलाकार की सामाजिक और आनुभविक सजगता भी युगधर्मानुकूल काफी बढ़ी हुई है। यह भी, कि समाजशास्त्री के बढ़ते हुए महत्व को भी वह अनदेखा नहीं कर सकता हालांकि उसकी सामाजिक आनुभविक जागरूकता उसके सृजनकर्म में जिस भेष में प्रकट होती है वह समाजशास्त्री के 'विजन' से स्वभावतः बहुत भिन्न होती है। हमने ऊपर चौखटे में देखे गए सगुण सत्य का सृजनशील कलाकार का स्वधर्म निरूपित किया था। इस प्रकार का दावा अन्य अनुशासनों का भी हो सकता है — विशेष कर समाजशास्त्रियों का। पर इस सदी का साहित्य इस तथ्य का गवाह है कि सृजनशील लेखक अपने स्वधर्म से ही आधुनिक मनुष्य की चेतना की जकड़बंदी करने वाली इन नई तर्कवादी विवेकवादी रूढ़ियों को अस्वीकार करता है और इस प्रकार उसका सम्प्रेष्य सत्य, उसका यथार्थ भाव चेतना के जिस धरातल पर सक्रिय होता है वह वैज्ञानिक समाज शास्त्री द्वारा उपलभ्य यथार्थ के स्तर से कहीं अधिक आभ्यन्तरिक कहीं अधिक गहरा धरातल है। समाजशास्त्री जहां यथार्थ को बौद्धिक अवधारणाओं के रूप में स्वायत्त करता है, वहां सृजनकर्मी लेखक भावना और बुद्धि की संयुक्त अन्तःक्रिया के जरिए अपने सृजन में प्रवृत्त होता है और यह अन्तःक्रिया, यह समग्र भाव बोध भाषा की भाविक सूक्ष्मताओं के जरिए स्वयं को रूपायित करता है। स्थितियों को बाहर से बौद्धिक विश्लेषण द्वारा स्वायत्त करने की बजाए उसकी स्वाभाविक वृत्ति उनमें अंतःप्रविष्ट होकर उन्हें भीतर से उजागर करने की होती है।

इस लेख के प्रारम्भ में दो उद्धरण टांके गए हैं एक में दार्शनिक का दृष्टिकोण है और दूसरे में आधुनिक समाजशास्त्री का। दोनों रूप और कथ्य की, 'विजन' और 'कम्युनिकेशन' की संवादिता पर जोर दे रहे हैं उसे अपने आप में एक मूल्य की तरह प्रस्तुत कर रहे हैं। एक इस संवादिता को कालजयी

कृति में और महान कृतिकार में इतिहास में—देख रहा है, तो दूसरा समाज के इतिहास में समाज को कृति में कौन 'विज़न' और संप्रेषण की इस रचनात्मक क्षमता की मांग कर रहा है। क्या इन दोनों धाराओं और इतिहासों का संबंध देखा जा सकता है ?

कीर्केगार्द कालजयी कृति की विशेषता ही यह मानता है कि उसमें 'फॉर्म' और 'कन्टेन्ट' की पूर्ण एकता सिद्ध होती है। किन्तु निश्चय ही कालजयी कृति ही स्वाभाविक कालजयी होती है कि एक तो उसकी संप्रेष्यता आने वाले युगों तक अप्रतिहत रही आती है और दूसरे, स्वाभाविक भी कि उसका सम्प्रेष्य सत्य भी उस पूरे समाज और संस्कृति के आत्म स्वरूप को प्रकट या प्रेरित करता पाया होता है—जैसे कालिदास का रघुवंश या वाल्मीकि कि रामायण। निश्चय ही सृजन सहज व्यक्ति का ही कर्म है, समाज का नहीं। किन्तु क्या कालजयी कृतिकार ऐसे समाज में प्रकट हो सकते हैं जो आत्म विश्वास विहीन हो, खंडित या परोपजीवी हो ? क्या मॉडर्न कलाकार (?) की क्रिएटिविटी भी क्या उन मूल्यों में निरूपण हो सकती है जो किसी समाज को अनुप्राणित करते आए हैं ? तभी तो वह नए मूल्यों की भी उद्भावना में समर्थ होगा। इसका अर्थ यही हुआ कि सर्जक व्यक्तित्व के योग के भी, महत्त्वपूर्ण सृजन कर्म के लिए समूचे समाज की रचनाशीलता आवश्यक है। समाज में रचनाशीलता तभी होगी जब अधिकतम व्यक्तियों में अधिकतम एकता या चरितार्थ करने वाली मूल्य दृष्टि और दिशाबोध उसे अनुप्राणित कर रहा होगा। यह मूल्य दृष्टि जहाँ नई चुनौतियों के आत्मविश्वासपूर्ण स्वीकार में प्रकट होती है, वहीं वह स्वयं अपने आप में इस स्वीकार की परम्परा यानी सृजन कर्म की परम्परा से प्रेरित और प्रभावित होती है। कालजयी कृति जहाँ जीवन सत्य के साधक रूपाकारों की खोज का परिणाम होती है, वहीं वह उसका प्रेरक कारण भी तो बनती देखी गई है।

कीर्केगार्द फॉर्म और कन्टेन्ट की शब्दावली में (अज्ञेय जी के चौखट वाले सत्य की तरह) बात कर रहा है तो प्रो. जोशी विज़न और 'तकनीक' की शब्दावली में। प्रो. जोशी के अनुसार संप्रेषण के साधनों की अभूतपूर्व क्रांति के युग की विडम्बना यह है कि हम उपयुक्त सम्प्रेष्य वस्तु के ही लाले पड़ गए हैं—उस संप्रेष्य वस्तु के जो पूरे समाज को एक नैतिक 'विज़न' दे सके, दिशा-बोध दे सके, उसे आर्थिक-सांस्कृतिक नव निर्माण के लिए प्रेरित कर सके। वे मानते हैं कि परम्परागत नैतिक विज़न और परंपरागत संप्रेषण साधनों के बीच एक आदर्श तालमेल था हमारे यहाँ जिसे अंग्रेजों की गुलामी ने बिगाड़ दिया पर जिसे सत्याग्रह युग में गांधीजी ने फिर से खोज—

अपनाकर नए सदभ मे और नए सिरे से प्रामगिक और प्रभावशाली बनाया। वे यह भी मानते है कि परपरागत नतिक मूल्य-दृष्टि के समतुल्य परपरागत सप्रेषण साधन भी अचानक नही पदा हो गए हागे। उन्ह कई सदिया के लगातार प्रयोग और अनुभव से ही विकसित किया गया होगा। इसलिए आज आधुनिक काल मे जब 'विजन' की यानी सचाई के बोध की परिस्थिति भी बदल गई और सप्रेषण की परिस्थिति भी बदल गई तो फिर स एक नए विजन' और उसके अनुकूल सप्रेषण का तालमेल खोजन के लिए हमे सचेत प्रयत्न करना पडगा और इसम हमारे लिए न केवल हमारा परपरागत अनुभव, बल्कि हमारे निकट इतिहास का राष्ट्रीय स्वाधीनता आदोलन का अनुभव—विशेषकर गाधी जी द्वारा प्रयुक्त सप्रेषण विधिया का अवलबन—विशेष रूप से उपयोगी होगा।

'फाम और 'काटेण्ट के बीच पूण एकता (ऐब्सोल्यूट हामनी) की बात तो आधुनिक युग की परिस्थितिया के चलते हुए एक दुलभ आदश लगने लगी है जसा कि हमने देखा वयक्तिक और सामाजिक दोनों ही स्तरा पर यह 'कम्युनिकेशन गप एक तथ्य के रूप म हमारे सिर पर चढ के बोलता है। सजक व्यक्ति अपनी समस्या का समाधान या तो स्मृति अथवा भविष्य स्वप्न (या दु स्वप्न) के जरिये करने का प्रयत्न करते हैं और समाज? इस अराजक आपाधापी के मूल्यमूढ युग मे कौन सा 'विजन पूरे समाज को अनुप्राणित कर सकता है? प्रा जाशी जी का कहना है कि लोगो म इतिहास बोध जगाना — खासकर उनमे जिन्ह स्वाधीनता आदोलन की कोई स्मृति नही है — उनमे राष्ट्रीय अपमान और दलन के बुनियादी कारणा की समझ जगाना परमावश्यक है। उन्होने अपने परचे म आतरिक उपनिवेशवाद' के खतरे की आर ध्यान दिलाया है। जो हमारे आज के समाजवादी विचारका के लिए भी चिन्ता का मुख्य विषय है। उसके प्रतिकारस्वरूप हमारी परम्परा म निहित नतिक मूल्या की 'बहुजनहिताय के आदर्शों की भी जोशीजी न विस्तार मे चर्चा की है। साथ ही बाहरी उपनिवेशवाद से कारगर ढग से लडन की चेतना और जनता मे जुडन हेतु सत्तानिरपेक्ष सम्प्रेषण-साधन विकसित करने के लिए महात्मा गाधी का आदश उन्होंने प्रस्तुत किया है। प्रश्न यहाँ पर मन मे यह उठता है कि क्या ये चीजें गाधीजी के लिए केवल साधन थी। क्या वे उनके साध्य के अनुरूप और उसी की दृष्टि मे मयोजित नही हुई थी? क्या उनका ममाज-स्वप्न वही था जो जोशी जी का है? क्या गाधीजी का विजन और रचनात्मक कम एव स्वत मम्पूण 'रशनलिटी' के आग्रह पर आधारित है? क्या मानव मूल्यों की अवधारणा

मे क्हो 'इर्रेगनल' को भी क्ष तमुक्त नहीं होना चाहिए ? सृजन कम के पीछे भी — जसा कि स्वय अनेय न लक्ष्य किया है — क्या कवि की वतमान क्षण के जीते जागते अनुभव मे ही 'अपने स बड कुछ' को पहचानन और सप्रेपित करने की क्षमता ही नहीं होती ? क्या समाजशास्त्री के सप्रेषण दशन म इस 'अपने से वडे कुछ' का मूल्या के ही स्रोत स्वरूप उन अनात प्रेरणाओ का भी स्वीकार और समझ होती है ? क्या हम परम्परा को भी सत्य और शब्द के दुहरे स्तरो पर केवल साधन की तरह इस्तेमान करके अपने सकट का समाधान कर ले जा सकते हैं ? हम इन प्रश्नो का उत्तर भी तो चाहिए। निश्चय ही बदले हुए सदम मे 'निगटिव विजन' और सप्रेषण के अथ का पुन खोजने और स्थापित करने की जरूरत से इनकार नहीं किया जा सकता। पर इस दायित्व के निवाह के लिए जिस मूल्यदृष्टि की जरूरत है, उसका तात्विक आनुभविक स्रोत और नतिक सापेक्षवाद से मुक्त असन्दिग्ध आधार क्या होगा ? इन प्रश्ना का ध्यान मे रखते हुए ही हम श्री जोशी की इस सायक चिता को सचमुच रचनात्मक स्तर पर स्वायत्त कर सकते हैं कि 'कही इन अत्याधुनिक सचार माध्यमा के फलस्वरूप हम आगे प्रगति करने की बजाए बबरता के आधुनिक रूपा म वापस न लुढक जाएँ।' निश्चय ही, हमारी अपनी ज्ञान परम्परा म दाशनिक वैज्ञानिक सत्य और साहित्यिक-कलात्मक सत्य के बीच उस तरह के असामजस्य की स्थिति नही होनी चाहिए और इसलिए यह आशा करना अनगल नही है कि हमारे सृजन-कर्मी और हमारे समाजशास्त्री एक दूसरे की अन्तदृष्टियो स लाभान्वित हो सकते हैं और जिस सास्कृतिक दलदल मे हम आज फस गए हैं उस बढाने की बजाए उसे मुक्त करने के लिए रचनात्मक सहयोग कर सकते हैं।

11,394
9|5|92



रमेशचन्द्र शाह

जन्म – 1937, अल्मोड़ा (उ. प्र.)

शिक्षा – अल्मोड़ा और इलाहाबाद में। अंग्रेजी साहित्य में एम. ए., पी-एच. डी.।

सम्प्रति – हमीदिया कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष।

प्रकाशित कृतित्व–

कविता-संग्रह

कछुए की पीठ पर, हरिश्चन्द्र आओ, पत्थर में नदी। भालू के मामा (बाल-कविताएं)।

उपन्यास

गोबरगणेश, किस्सा गुलाम।

कहानी-संग्रह

जंगल में आग, मुहल्ले का रावण।

निबन्ध संग्रह

शैतान के बहाने, आडू का पेड़, रचना के बदले।

समालोचना

छायावाद की प्रासंगिकता, समानान्तर, वागर्थ, जयशंकर प्रसाद। शोधग्रंथ 'यट्स एण्ड एलियट पर्सपेक्टिव्ज़ ऑन इण्डिया' अंग्रेजी में प्रकाशित।

नाटक

मारा जाई खुसरो, मटियाबुर्ज ('रोशोमन' का हिन्दी रूपान्तर)।